दशलक्षण धर्म देशना

प्रवचनकार :

ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'

प्रकाशक :

श्री वर्द्धमान न्यास

(पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट) अमायन, भिण्ड (म.प्र.)

सहयोगी :- ❖ श्री मुकेश कुमार जैन, जैना ज्वैलर्स, ग्वालियर ❖ श्रीमती मीना अनिल जैन, भोपाल ❖ श्री शिखरचन्द अनुराग कुमार जैन, टीकमगढ़ ❖ श्री वज्रसेन जैन, दिल्ली ❖ श्रीमती रजनी जैन, ग्रेटर नोएडा वेस्ट, दिल्ली ❖ श्री लव चारु जैन, इन्द्रापुरम, गाजियाबाद, दिल्ली ❖ श्रीमान विनोद कुमार सुनीता जैन, ग्वालियर ❖ श्री सचिन जैन, ग्वालियर ❖ श्री वैभव जैन प्राक्षी जैन, ग्वालियर ❖ श्री सतीश कुमार जैन, गोदरेज हाउस, रवि नगर, ग्वालियर ❖ श्री अतुल कुमार जैन, मेरठ ❖ श्री अंकितजी जालोटी, बेंगलोर ❖ श्रीमती पिंकी जैन धर्मपत्नि श्री संजय जैन गोमिया, झारखंड ❖ श्री निर्मल जैन, इन्दौर ❖ श्री स्मिथ बटवारिया, मुम्बई ❖ श्री सुनील कुमार जैन, दिल्ली ❖ श्री अभिनंदन जैन, दिल्ली।

दशलक्षण धर्म देशना
ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'

प्रकाशक :
श्री वर्द्धमान न्यास (पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट)
अमायन, भिण्ड (म.प्र.)-477227
मो. 9826225580

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ (18 जनवरी 2026)
(द्वितीय पुण्य स्मरण - ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्')

न्यौछावर राशि : 30/-

Daslaxan Dharam Deshna
By Br. Ravindra ji 'Aatman'

Published by :
Vardhman Nyas
Amayan, Bhind (M.P.)

Edition : First Sanskaran
18th January 2026
Price : Rs 30/-

प्रकाशकीय

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।476।।

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा

वस्तु का स्वभाव धर्म है। दश प्रकार के क्षमादिक भाव धर्म हैं, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र) धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

धर्म का स्वरूप दशलक्षणरूप है। इन दश चिन्हों के द्वारा अंतरंग धर्म जाना जाता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य – ये दशधर्म के लक्षण हैं, इनके आश्रय से परिणति में साम्यभाव प्रकट होता है।

यद्यपि इन दश धर्मों की चर्चा मुख्यत: भादो सुदी पंचमी से चतुर्दशी में आने वाले दशलक्षण पर्व में ही होती है, चूंकि ये पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं, जो वीतरागता पोषक, संयम व साधना के पर्व हैं। संयमी जीव के सानिध्य में ये पर्व विशेष विशुद्धि में निमित्त बनते हैं, खान–पान, आचार–विचार, संपूर्ण वायुमंडल संयम की महक से सुरभित रहता है। संयम की साधना/सुरक्षा असंयमी भावों के मध्य कठिन है, दुर्लभ है।

एकांत साधक श्रद्धेय **ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्'** वर्षों गुप्त रह क्षमादि दश धर्मों को आत्मसात् कर एकत्व की शोध खोज में ही बढ़ते रहे। सच्चे अर्थों में आराधक ही प्रभावक होता है, उठना–बैठना, आचार–विचारादि प्रत्येक क्रिया प्रेरणा देती है।

सन् 2007 में जब प्रथमबार आपका सोनागिरजी सिद्धक्षेत्र पर दशलक्षण पर्व पर जाना निश्चित हुआ, तो अध्यात्म, आगम व संयम का सुमेल देखने–सुनने सैंकड़ों साधर्मियों के हृदय में हर्ष की लहर दौड़ गई। मात्र पूजन, प्रवचन तक ही ये पर्व सीमित न रहकर जीवंत दश धर्मों का आदर्श जीवन से झलकता। पूजन, प्रवचन के साथ–साथ सामायिक अभ्यास,

संयमित आहार, विहार, जीवन चर्या अनुकरणीय व आकर्षण का केन्द्र रही और यह क्रम चलता रहा कभी द्रोणगिर कभी सोनागिर। सैंकड़ों भव्य जीव संयमी भावों में निमग्न हो संयमित जीवन और आध्यात्मिक, आगमपरक चिंतन से लाभान्वित होते रहे।

ब्रह्मचारीजी की क्षमा आदि दश धर्मों का यह चिंतन इतर विद्वानों से पृथक् दिखने पर भी उसी प्रवाह को लिए हुए है, जो मुमुक्षु साधक भाई/बहिनों के परिणाम विशुद्धि में निमित्त बनने के साथ-साथ पर्वों के दिनों में प्रवचन करने वाले विद्वानों को भी एक नई दिशा देगा। यद्यपि अलग-अलग वर्षों में विषय-वस्तु भी पृथक्-पृथक् रही है। संपूर्ण विषयवस्तु को तैयार करना काफी श्रमसाध्य कार्य है, यदि योग हुआ तो भविष्य में प्रयास जारी रहेगा। आप कभी अपने प्रवचनों की रिकॉर्डिंग भी नहीं होने देते थे, लेकिन अनेक साधर्मियों ने उन्हें गृहस्थ जीवन की परिस्थितियों से अवगत कराया तो उन्होंने अपने प्रवचनों की रिकॉर्डिंग पर विचार कर कहा कि पहिले उन्हें प्रमाणित व संशोधित कर ही बाहर निकाला जाये तात्कालिक घटित कोई प्रसंग बनने पर उन्हें तुरंत अलग कर दिया जावे इस कार्य को जिम्मेदारी से एक स्थान से ही संपादित किया जावे पश्चात् बाहर निकले रिकॉर्डिंगों में इसका स्खलन भी परिलक्षित होता है, जो असंशोधित ही बाहर भेज दी गई, यह उतावलेपन व भावुकता का दुष्परिणाम है।

इन्हीं प्रवचनों से दश धर्मों के चिंतन को एक साधर्मी भाई ने अक्षरशः लिखा जिसे मुमुक्षु जगत के वयोवृद्ध विद्वान, ब्र. भाई व विदुषी बहिनों के सहयोग से व्यवस्थित करने का प्रयास किया।

भाषा के उद्भव से परिमार्जन तक सभी मुमुक्षु साधर्मी विद्वान जिन्होंने आ. ब्रह्मचारी जी के अंतर्भावों को अक्षुण्ण रख इस प्रयास को गति दी है, उनका यह उत्तरदायित्व साधक जीवों को परिणाम विशुद्धि में निमित्त बने, इसी भाव से '**दशलक्षण धर्म देशना**' प्रस्तुत है। सभी सहयोगियों के हृदय से आभारी हैं।

- **अखिल जैन**

मंत्री, श्री वर्द्धमान न्यास अमायन, भिण्ड (म.प्र.)

साधक अस्तित्व प्रतिरूप

साधक परम्परा के दैदीप्यमान नक्षत्र श्रद्धेय '**ब्र. रवीन्द्रजी आत्मन्**' जो एकांत साधना कोलाहल व भौतिक संसाधनों से दूर रहकर निवृत्ति को सार्थक करते। जिनका दृष्टिकोण आगम व अध्यात्म की मर्यादा में, प्रयोजनपरक व तात्त्विक था। एकत्व की शोध-खोज में ही आप बढ़ते रहे। आपके जीवन में मर्यादा का उल्लंघन कभी देखने को न मिला। भावुकता व अतिरेक में आप कभी कुछ नहीं बोले - जागृत विवेक व स्याद्वादमयी चर्या-चर्चा सर्वत्र परिलक्षित होती रही। 'स्वान्तः सुखाय' जीवन का मूल मंत्र रहा।

दैनिक चर्या प्रायः प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में लगभग चार बजे ब्रह्म की आराधना में बैठ जाते, मौन रह परमागम का रसास्वादन करते, जाप्य/पाठ/ कभी लेखन, उजाला होने पर जिनदर्शन के पश्चात् ही नित्य क्रिया करते, कुँआ का बिलछानी, मर्यादा युक्त जल करीब 25 से 28 लीटर रहता उसी में प्रतिदिन की दैनिक क्रिया चौका से स्नान, वस्त्रादि 24 घंटे का संपूर्ण व्यय। (डिटरजेंट, केमीकल युक्त सर्फ साबुन का कभी प्रयोग नहीं किया, घर पर ही सोड़ा, रीठा से सर्फ व मुल्तानी मिट्‌टी, नीम कपूर आदि मिलाकर तैयार कर ली) साबुन के जल को भी नाली में न बहाकर अन्यत्र, रेत अथवा सूखे स्थान पर डलवा देते।

मात्र बियालीस वस्त्रों की मर्यादा में लिपटा आपका जीवन था, जिसमें पहिनने, ओढ़ने, बिछाने आदि के सभी वस्त्र शामिल थे, कभी मँहगी सामग्री का उपयोग न करते, बिजली आदि भी बहुत अल्प मात्रा में, ए.सी., कूलर तो दूर पंखा का भी प्रयोग नहीं किया, भीषण गर्मी में भी इन संसाधनों से दूर रहे, हाथ का बीजना (पंखा) रहता। प्राकृतिक हवा प्रकाश से युक्त वातावरण में ही प्रायः रहते। निजी जीवन में तो इनके प्रयोग से दूर

ही रहे, अपितु सामूहिक मंदिर, स्वाध्याय सभा में भी इनका प्रयोग नहीं होता। आवास अथवा साधक परिसर भी खुला खिड़की, बैल्टीनेटर युक्त रखा, जहाँ पंखा आदि की आवश्यकता महसूस ही नहीं होती थी। स्वावलंबी व सस्ती जीवन चर्या कभी-कभी कह देते की सामान्य श्रावक भी जिसका निर्वाह कर सके। आपने निरतिचार अव्रती श्रावक के रूप में अपने को रखा, किन्तु व्रती चर्या की खुशबू वातावरण में सर्वत्र महकती रही। उत्कृष्ट साधना और सामान्य का सुमेल, जहाँ न अहं, न दम्भ दुर्लभ है। शरीर धर्म साधन का निमित्त है, गंतव्य तक पहुँचाने के लिए इसकी सुरक्षा भी आवश्यक है, किन्तु अभक्ष्य और अप्रासुक खाद्य व औषधि कुछ भी प्रयोग न कर काष्ठौषधियाँ, स्वनिर्मित घरेलू उपचार से ही इसकी सुरक्षा की। न खींचकर, न अज्ञान अविवेक में सदैव संयम ऊर्ध्व रख (शरीर) पड़ोसी की सुरक्षा की।

संयम की साधना/सुरक्षा असंयमी भावों के मध्य कठिन है, दुर्लभ है। नित्य क्रिया के पश्चात् पवित्र वस्त्रों से देवपूजन, स्वाध्याय पश्चात् अनासक्ति भाव से आहारचर्या चौका की मर्यादा में करते।

सामायिक काल में अन्नपानादि से निवृत्त रह जाप्य, आलोचना, सामायिकादि पाठ में बैठ जाते। पूर्व जीवन में तो दो घंटे मौन साधना व अभ्यास में निमग्न देखा, उत्तरकाल में यह साधना प्रातः के बेला में अविरल रूप से चलती रही, मध्यान्ह का समय धर्म प्रभावना के रूपक, साधर्मी वात्सल्य, स्थितिकरण में व्यतीत होता कभी-कभी निज अभ्यास व लेखन में भी वे क्षण लगते - विकथा, प्रमाद, परनिंदा, प्रशंसा में उपयोग कभी बर्बाद नहीं किया। साधना की न्यूनावस्था दिखने पर भी, सेवा की उत्कृष्ट ललक हमेशा आलोकित रहती। साधर्मी प्राण हैं। धर्म, धर्मात्मा, धर्मायतन, इनकी सुरक्षा में ही अपने को समर्पित रखा। सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व जलपानादि से निवृत्त हो साधक स्थितिकरण में आपका अवपीड़क व कुशल प्रशासक का रूप भी दिखता। अंतर की निर्मलता के साथ वह

साधक की साधना को निरापद रूप देना ही लक्ष्य था, देववंदन व संध्या बेला में सामायिकादि में बैठ जाते। अपने आवास पर विकथा न करने देते आवश्यक चर्चा कर पाठ, स्वाध्याय से वातावरण सुरभित रहता। सामूहिक स्वाध्याय में अभ्यास कराते, आकर स्वरूप स्मरण करते-करते आप विश्राम करते।

यह चर्या जीवन भर बनी रही - आँधी-तूफान, अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग के मध्य भी चलायमान नहीं हुई। ये धारा मुख्यता-गौणता के साथ सतत् चलती रही और जीवन के अंतिम पड़ाव में जब स्वास्थ्य भी झकझोर रहा था तब भी इस पथिक ने संयम छोड़ना तो दूर उसकी अवहेलना भी नहीं की, मर्यादा-मार्ग को विकृत होते देख कुंभकार-सी चोट देकर अपने आकार देने का भरसक प्रयास किया, शिथिलाचार को फटकने भी नहीं दिया, लगभग दो माह पूर्व ही शारीरिक शिथिलता के चलते भी शाश्वत तीर्थ की वंदना संयम की डोर में बँधकर करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था किन्तु साधक की अंतरंग भक्ति का जगत को यह प्रमाण है।

स्वास्थ्य हिलोरें ले रहा था, आप अडिग खड़े थे - आपके ही द्वारा बसाया गया संसार संयमी जीवों का परिवार संयम परिपालना में सजग था आज वह सूर्य जिसके प्रकाश में संयमी जीवन की निर्दोष परिपालना हो रही थी वह अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था, जीवन भर निर्ग्रंथता की भावना भाते-भाते अंत समय में प्रकृति ने वस्त्र भी उतरवा लिये, निवृत्त होने के बहाने उतरे हुए वस्त्र पुनः शरीर को आच्छादित न कर सके और निर्ग्रंथ पथिक - जो कुछ जहाँ वही रहने दो, केवल दृष्टि मोड़ लो का अंतिम मूक संदेश देकर इस वसुधा से सदा-सदा के लिए अस्त हो गया।

आज चर्या उपासक नहीं हैं, किन्तु वह खुशबू धूमिल न होने पाये। उनकी चेतन विरासत जिन्होंने उनके सानिध्य में अपने आपको रखा प्रत्यक्ष व परोक्ष यह जिम्मेदारी व परम्परा निर्वाह उनके कंधों पर है।

अनुक्रमणिका या विषय सूची

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	धर्म का स्वरूप	9
2.	उत्तम क्षमा धर्म	16
3.	उत्तम मार्दव धर्म	29
4.	उत्तम आर्जव धर्म	52
5.	उत्तम शौच धर्म	65
6.	उत्तम सत्य धर्म	86
7.	उत्तम संयम धर्म	105
8.	उत्तम तप धर्म	124
9.	उत्तम त्याग धर्म	145
10.	उत्तम आकिंचन्य धर्म	162
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म	179
12.	क्षमावाणी	192

धर्म का स्वरूप

'धर्म के दशलक्षण'* इस शीर्षक का रहस्य यह है कि अभेदरूप एक! धर्म का दश भेद की ओर से कथन किया गया है अतएव धर्म के दशलक्षण – यही नाम सार्थक है। दशलक्षण धर्म अर्थात् दशलक्षणों से प्रसिद्ध होने वाला, कहा जाने वाला, समझा जाने वाला, वीतराग भाव, साम्य भाव ही धर्म है।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि सात तत्त्वों में ये दशलक्षण धर्म कौन-सा तत्त्व है। दशलक्षण धर्म का प्रकट होना संवर तत्त्व है, दशलक्षण धर्म का वृद्धिंगत होना निर्जरा तत्त्व है और दशलक्षण धर्म की पूर्णता होना मोक्ष तत्त्व है। तत्त्वों के संदर्भ में इनका विचार इसलिये करना जरूरी है कि ये धर्म केवल चर्चा का विषय नहीं है, अपितु प्रकट करने योग्य उपादेय है।

अब हमें यह सोचना चाहिये कि दशलक्षण धर्म कैसे प्रकट होगा? धर्म धर्मी के आश्रय से होता है, अतः आत्मा आश्रय

---

* वर्षों पहले तक दशधर्म या दशलक्षण धर्म आदि शब्दों का प्रयोग ही किया जाता था, परन्तु सन् 1977 में डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा इस विषय पर लिखी गई पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक 'धर्म के दशलक्षण' रखा गया। विद्वान लेखक यह संदेश देने में सफल हुए, कि धर्म दश नहीं अपितु एक वीतरागभावरूप चारित्र ही है, जिसे उत्तम क्षमा आदि दशलक्षणों द्वारा कहा जाता है। तब से प्रायः सभी विद्वान इसी शीर्षक का प्रयोग करने लगे हैं।

करने योग्य उपादेय है और दशलक्षण धर्म प्रकट करने योग्य उपादेय है।

किसी भी कार्य की तैयारी बहिरंग और अन्तरंग दो रूपों में होती है। इनमें अंतरंग तैयारी प्रधान है। दशलक्षण धर्म पर्व मनाने की बहिरंग तैयारी कई दिन पहले से होने लगती है। मन्दिर की सफाई, प्रतिमाजी का मंजन करना, शास्त्रों की सम्हाल करना तथा पाण्डाल आदि अन्य और भी व्यवस्थायें कर लें, लेकिन सबसे बड़ी तैयारी मानसिक तैयारी है, क्योंकि हमें पर्व कहाँ मनाना है बहिरंग में या अन्तरंग में? यदि अन्तरंग में पर्व मनाना है तो उसकी तैयारी अन्तरंग में भी होना ही चाहिये।

यदि विधान करना है तो विधान की तैयारी मात्र इतनी ही नहीं है कि विद्वान बुला लें, पाण्डाल लगा लें, भोजन की व्यवस्था करा लें। असली तैयारी तो यह है कि उस विधान का स्वाध्याय कर लें, जिससे उस विधान को पढ़ते समय, पूजा करते समय, कुछ भावभासन हो सके। यह एक आयोजन तो कहा जाता है, लेकिन आयोजन के पीछे एक प्रयोजन होता है। एक वीतरागता का ही प्रयोजन है और कोई प्रयोजन नहीं है। एक आत्मार्थ का ही प्रयोजन है।

दूसरी बात यह है कि धर्म के दशलक्षण जब कहे हैं, तो हम धर्मात्मा को कहाँ से पहिचानते हैं और कहाँ से पहिचानना चाहिये? दूसरे को भी और अपने को भी!

यदि कोई मन्दिर नहीं आता था और किसी की प्रेरणा से मन्दिर आने लगा, कुछ घटना ऐसी घट गई कि पिताजी नहीं रहे। वे पूजा-पाठ करते थे, मन्दिर के प्रमुख थे। लोग क्या

कहेंगे? चलो भाई! किसी प्रसंगवश मन्दिर आने लगे तो वह व्यक्ति सोचने लगता है हम कुछ धर्मात्मा हो रहे हैं। इसीप्रकार अन्य भी अनेक प्रसंग बनते हैं।

पण्डितजी बोले क्यों भाई! दर्शन करके चले जाते हो, तुम तो मुखिया हो। शास्त्र-स्वाध्याय में बैठा करो! तो स्वाध्याय में बैठने लगे और सोचने लगे कि हम कुछ और धर्मात्मा हो गये। इस बार का शिविर आपकी ओर से, 'जैसी आपकी आज्ञा!' एक विधान करा लो, 'जैसी आपकी आज्ञा!' एक वेदी ऊपर बना लो! 'हाँ ठीक है!' इन प्रसंगों में वह सोचने लगता है कि हम धर्म की ओर बढ़ रहे हैं।

किसी ने कहा क्यों भाई कैसे जैन हो! बाजार का तो नहीं खाना चाहिये, रात्रि में तो नहीं लेना चाहिये, अनछना पानी तो प्रयोग नहीं करना चाहिये। जुआ आदि की प्रवृत्तियाँ, ये सप्त व्यसन की प्रवृत्तियाँ तो नहीं करना चाहिये। साधारण श्रावक भी अष्ट मूलगुणों का धारी और सप्त व्यसन का त्यागी होता है; तो कुछ-कुछ समझ में आने लगा और सोचा कि ठीक है, छोड़ दें और ये सब छोड़ दिया तो वह सोचने लगा कि हमारे आचरण में भी धर्म आ गया और हम कुछ अधिक धर्मात्मा हो गये। फिर दूसरों के बारे में हमारी ऐसी सोच हो गई कि ये लोग बस चर्चा करते हैं, जीवन में तो कुछ त्याग है नहीं या अमुक लोग तो क्रियाकाण्ड में फँसे हैं कुछ ज्ञान तो है नहीं। अरे भाई! इनको स्वाध्याय करना चाहिये! स्वाध्याय बिना कुछ नहीं होता। इसप्रकार हमारी आदत केवल दूसरों को टोकने की या समझाने की हो जाती है, लेकिन हम सोचें कि हमने स्वयं को किस आधार पर धर्मात्मा माना है?

यहाँ कहा जा रहा है कि धर्म के दशलक्षण हैं, तो सोचो कि लक्षण किसे कहते हैं? जो लक्ष्य को प्रसिद्ध करे, जो धर्म को प्रसिद्ध करता है, वही धर्म का लक्षण है। कौन प्रसिद्ध करता है धर्म को? कैसे जाना जाए कि यह धर्मात्मा है?

जिसके जीवन में उत्तम क्षमा वर्तती है, उत्तम मार्दव भाव वर्तता हो, उत्तम आर्जव आदि भाव वर्तते हों। उससे धर्मात्मा की पहिचान होती है। अपने जीवन में भी धर्म की पहिचान ऐसे ही करनी चाहिये। यहाँ उत्तम क्षमा कहा, तो अकेली क्षमा नहीं समझना! उत्तम क्षमा आदि धर्मों का फल भी उत्तम लिखा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है न –

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। 2।।

'उत्तम' शब्द का अर्थ है! श्रेष्ठ और महान। अतः उत्तम सुख को प्राप्त कराने वाला धर्म भी उत्तम ही है। इस धर्म को उत्तम क्यों कहा जाता है? 'उत्तम' शब्द का अर्थ जो आपने पढ़ा-लिखा है वह तो मालूम ही होगा। 'उत्तम' का अर्थ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित, लेकिन सच पूछो तो 'उत्तम' शब्द का अर्थ मात्र इतना नहीं है। उत्तम का अर्थ है सहज, स्वाभाविक, श्रेष्ठ। उत्तम क्षमा का अर्थ है – स्वाभाविक क्षमा, सहज क्षमा। नियमसारजी परमागम में आपने पढ़ा होगा, आत्मा को उत्तमार्थ कहा है। अर्थ माने – द्रव्य-गुण-पर्याय, पदार्थ।

पद के द्वारा जो कहा जाता है उसे पदार्थ कहते हैं। 'पद' यानि अक्षरों का समूह और पद के द्वारा जो कहा जाता है वह वस्तु, उसका नाम पदार्थ है। छह द्रव्य हैं, उनके अनन्त-अनन्त

गुण हैं, उनकी अनन्त पर्याय हैं, वे सब अर्थ हैं। इन अर्थों में उत्तम कौन है? आत्मा को उत्तमार्थ कहा है। उत्तम शब्द तो आप मंगलपाठ में भी पढ़ते हैं '**चत्तारि लोगुत्तमा।**' लोक में चार उत्तम हैं। जो सबसे महान हो उसे उत्तम कहते हैं। तो सबसे महान तो एक स्वभाव ही होगा, चार कैसे होंगे, विचार करो! अलग-अलग जाति में अलग-अलग महान हैं।

रत्न किसे कहते हैं? सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में रत्न की परिभाषा दी है। जाति-जाति में जो महान होता है उसे रत्न कहते हैं। जैसे चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते हैं। अश्व रत्न का क्या अर्थ है? जो घोड़ों में उत्कृष्ट हो। घोड़ों में जो सबसे बढ़िया हो, श्रेष्ठ हो उसे अश्व रत्न कहते हैं। ऐसे ही देव-शास्त्र-गुरु को रत्न कहा। चार महान कहे। चार महान कैसे? जो देवों में सबसे महान हैं, वे हैं वीतराग सर्वज्ञ देव। देवों के नाम पर कितने देव माने जाते हैं। उन देवों में सबसे महान हैं - वीतराग सर्वज्ञ देव। तो हो गया उत्तम का अर्थ अरहन्ता लोगुत्तमा। अरहन्त कर्म शत्रु के नाश करने के अर्थ में भी होता है। कर्म शत्रु को जो जीते, तो जीतने वालों में सबसे उत्तम, जिसने जीता है। किसे जीता है? अपने मोहादि भावों को, कर्मों को, दुःख के कारणों को जीता है और अपने आत्म-साम्राज्य को जिसने प्राप्त किया है। वे अरहंत देव देवों में सबसे महान हैं।

जितने भी पद हैं, वे आत्मा की अवस्थायें हैं उनमें सबसे उत्तम है सिद्ध पद। सिद्ध अवस्था, मुक्त अवस्था। तो दूसरा रत्न हो गया। सब अलग-अलग हैं। किसी की किसी से कोई तुलना नहीं है। अश्व रत्न की नररत्न से क्या तुलना? मनुष्यों में जो

श्रेष्ठ है उसे नररत्न कहेंगे। समाज में जो श्रेष्ठ है उसे समाजरत्न कहेंगे। तो रत्न उसे कहते हैं जो अलग-अलग जातियों में उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है। तो देवों में उत्कृष्ट कौन है? अरहन्त देव। पदों में उत्कृष्ट है सिद्ध पद।

साधुओं में उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ साधु हैं। साधु का शब्दार्थ है जो साधे! जो साधते हैं, साधना करते हैं उन्हें ही तो साधु कहते हैं, लेकिन कैसी साधना करते हैं? और किसकी साधना करते हैं? द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है **'साधयन्ति नित्य शुद्धं'।** शुद्ध रत्नत्रय को जो नित्य साधते हैं। लोक में कहते हैं न! कि भाई इनको साध के रखना। घी साध के ले जाना, मतलब फैल न जाए। साध के रखना, मतलब इनकी व्यवस्था में कोई गड़बड़ न हो जाए। यह साध के रखना, यह काँच का सामान है, टूट न जाए। ऐसे ही रत्नत्रय को जो साधते हैं, अपने परिणाम को साधते हैं और उस परिणाम के लिए अपने स्वरूप को साधते हैं। विद्या अध्ययन करने वाले भी कितने उपसर्ग, परीषह सहन करते हैं? रावण की बहुरूपिणी विद्या के सम्बन्ध में भी आया है कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था, उस समय अंगद आदि ने कितने उपसर्ग किये? लेकिन रावण जैसे का तैसा। लेकिन बतायें? क्या वह साधु लोगुत्तमा में है, नहीं है। साधुओं में उत्तम कौन? साधने वालों में उत्तम कौन? जो इस उत्तमार्थ को साधते हैं, रत्नत्रय को साधते हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ साधु उत्तम कहे जाते हैं।

ऐसे ही धर्म-धर्म सब कोई कहते हैं। आजकल धर्म के नाम पर कितने प्रकार के धर्म कहे जाते हैं और कितने तो लौकिक

कर्त्तव्यों को धर्म मान लेते हैं। माता-पिता, समाज, राष्ट्र, दीन-दुखियों की सेवा करना भी गृहस्थ का कर्त्तव्य है और लोक में इसे भी धर्म कहा जाता है। श्रावक की भूमिका में भी ऐसी क्रियाएँ होती हैं, परन्तु क्या आप मात्र गृहस्थ, पुत्र या नागरिक आदि ही हैं? मूल में भूल तो यही है कि हमने अपने को आत्मा देखा ही नहीं है, इसीलिये ये बातें समझ में नहीं आती और जब यह बात समझ में नहीं आती तो हमारा व्यवहार भी अहंकार से ग्रसित होकर केवल इन्हीं व्यवहार कार्यों में अटक जाता है।

परमार्थ के बिना व्यवहार भी सम्यक् नहीं होता। बाल-बच्चे जिन्हें आप अपना कह रहे हो उनके भीतर भी तो आत्मा है या नहीं? और ये भी आत्मा को भूलकर इन मोह-राग-द्वेषादि भावों से दु:खी हो रहे हैं या नहीं? तो ये मोह-राग-द्वेषादि भाव कैसे छूटें, अज्ञान कैसे छूटे? अपने भूले हुए आत्मा को कैसे पहिचानें? क्या इस बात को आपने कभी सोचा है? अपने को भूलना ही मोह है। अपने को भूलकर यह मैं हूँ, ये मेरे हैं – ऐसा जो परिणाम है वह मोह है। परपदार्थों को इष्ट जानकर चाहना राग है और दु:ख का कारण जानकर हटाने की इच्छा द्वेष है। धर्मों में जो उत्तम है, लौकिक जीव जिन्हें धर्म कहते हैं, वह उत्तम धर्म कौन-सा है? '**केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।**' अब आप विचार करो कि केवली भगवान के द्वारा कहा गया जो वीतराग धर्म है; रत्नत्रय धर्म है, जिस धर्म के दश लक्षण हैं, वही लोक में उत्तम है, श्रेष्ठ है, महान है, वह ग्रहण करने योग्य है, अंगीकार करने योग्य है।

❖❖❖

उत्तम क्षमा धर्म

क्षमा आदि दशलक्षण धर्मों के पहले 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया गया है। उत्तम का अर्थ ग्रहण करने योग्य है। अब कहाँ से ग्रहण होगा, कैसे ग्रहण होगा? यह सोचें! जिस धर्म को उत्तम कहा, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, तो उत्तम का अर्थ क्या है? **जिसका फल उत्तम सुख है, जो उत्तम पुरुषों के जीवन में सहजपने वर्तती है, जो उत्तम तत्त्व के आश्रय से होती है। उस क्षमा को उत्तम क्षमा कहते हैं।** जैसे जैन का बालक भी तो जैन ही होगा, मिश्री से बने मिष्ठान्न भी मीठे होंगे। ऐसे ही उत्तमार्थ अर्थात् आत्मा। उत्तम तत्त्व के आश्रय से जो परिणति प्रकट हुई वह कैसी होगी और उसका फल भी कैसा होगा? और उसको धारण करने वाले भी कैसे होंगे?

उत्तम का अर्थ है - श्रेष्ठ, महान, स्वाभाविक, सहज। ऐसी सहज स्वाभाविक क्षमा जो सोच-सोच कर नहीं करनी पड़े, सहज वर्ते। 'सहज' शब्द का प्रयोग तो नियमसारजी में बहुत किया है। नाटक समयसार में तो आप पढ़ते ही हैं **'ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जग माँहिं सहज वैरागी'**। सहज शब्द का क्या अर्थ है? जैसे अनुज बोलते हैं, अग्रज बोलते हैं। अग्रज का मतलब पहले जन्मा है अनुज का मतलब बाद में जन्मा है। ऐसे सहज का मतलब साथ-साथ जन्मा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ ही इसप्रकार की क्षमा परिणति प्रकट होती है, इसलिये इसे उत्तम क्षमा कहते हैं। सहज क्षमा सोच-सोच कर नहीं करनी पड़ेगी। अब नुकसान तो हो ही गया है, अब तुम जाओ। क्षमा

किया तुम्हें। इसको तो क्षमा कर दिया आपने लेकिन आपकी परिणति में क्षमा नहीं आई।

पं. द्यानतरायजी ने पूजा में क्या शब्द का प्रयोग किया है। **'गाली सुनि मन खेद न आनो'** गाली सुनकर प्राय: लोग खेदित हो जाते हैं, खेदखिन्न हो जाते हैं, लेकिन समस्त प्रसंगों में यह बात समझ लेना चाहिये। जब आनन्दमय आत्मा से विमुख होकर अपनी इच्छाओं के प्रतिकूल परिणतियों को, संयोगों को, संयोगी अवस्थाओं को देखकर मन में जो खेद-खिन्नता होती है, समझ लो क्रोध हो गया। इसमें आत्मा का अनादर है। शास्त्रीय परिभाषा करें तो **अनिष्ट की कल्पना करने पर जो क्षोभ का परिणाम हुआ उसका नाम क्रोध है, द्वेष है। इष्ट की कल्पना करने पर जो विकार होता है उसका नाम राग है। मेरेपन का विकल्प होने पर जो परिणाम होता है उसका नाम मोह है।**

मोह माने अपने को भूलकर 'ये मैं हूँ, ये मेरे हैं' और राग का अर्थ है - इष्ट जानकर सुखरूप और सुख के कारण जानकर चाहना और द्वेष का अर्थ है - दु:ख और दु:ख के कारण जानकर हटाने का भाव। देखो! परपदार्थ इष्ट भासित होना श्रद्धा का दोष है और इष्ट भासित होकर उसे रखने का भाव होना, बनाये रखने का भाव होना, उसका नाम राग है, वह चारित्र का दोष है और ऐसे ही पर में अनिष्ट की कल्पना होना श्रद्धा का दोष है और उसके साथ उस वस्तु को दूर करने का जो भाव हुआ उसका नाम द्वेष है, इसलिये द्वेष की जब भाषा आती है तब हट जाओ सामने से, चले जाओ, दूर हटो। द्वेष की यही

भाषा है। बाहर कोई आया। देखो कौन आया है? फलाना है। कह दो नहीं हैं। अगर इष्ट की कल्पना हुई तो, अच्छा बुला लो। दूर करने का नाम द्वेष और मिलाने का भाव राग है। ये जो परिणाम है न, इनका नाम है राग-द्वेष। ध्यान रखना! पर में अपनत्व की मान्यता, उसे इष्ट या अनिष्ट मानना मिथ्यात्व है, श्रद्धा का दोष है। ऐसे ही कर्तृत्व की मान्यता है, वह भी श्रद्धा का दोष है। ऐसी मान्यता के साथ पर को रखने या हटाने का भाव, वह चारित्र का दोष है। अब विचारना! वचन और काया के द्वारा तो उनकी अभिव्यक्ति होती है। सच पूछो तो वचन और काया में क्रोध या क्षमा आदि भाव नहीं होते।

गाली आदि की प्रवृत्ति के द्वारा क्रोधादिक की अभिव्यक्ति होती है। क्रोध कहाँ हुआ? क्रोधादिक जीव की विकारी परिणतियाँ हैं, जीव के वैभाविक परिणाम हैं। ये क्रोधादिक भाव कहीं पुद्गल में नहीं हो रहे, लेकिन पुद्गल में नहीं हो रहे हैं - ऐसा सुनकर कहीं यह नहीं समझ बैठना कि ये जीव में होते हैं या जीव का स्वभाव है। यह तो भेदज्ञान की एक शैली है। पुद्गल में होते हैं तो यहाँ चौकी में भी होना चाहिये। इसको तो कभी क्रोध नहीं होता। इस चौकी को, खम्बे को या कुर्सी को तो कभी क्रोध नहीं आता, चाहे कोई भी इसके ऊपर बैठ जाए। इस चौकी पर शास्त्र रखते हैं। चौकी पर कुछ और रख दें तो भी इसे कभी क्रोध नहीं आता, तो विचार करो कि क्रोध कहाँ होता है?

एक दूध की स्वाभाविक गन्ध है और उफन कर दूध जब अग्नि पर गिर जाता है तब उसकी गन्ध अलग प्रकार की आती

है। दूर से पहिचान में आती है और कहते हैं बहिन, दूध निकल गया, उठाओ। वह दूध की जली गन्ध समझना। ऐसे ही जीव के दो प्रकार के परिणाम है। एक तो ज्ञानादिक और एक क्रोधादिक भी जीव के परिणाम हैं, लेकिन जैसे ज्ञानादिक जीव के परिणाम हैं, वैसे क्रोधादिक जीव के परिणाम नहीं हैं।

अग्नि जैसे उष्णतामय है वैसे धूममय नहीं कही जा सकती। अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता लेकिन धुआँ अग्नि को घातता है। ऐसे ही क्रोधादिक भाव जहाँ जीव नहीं है वहाँ नहीं होते; लेकिन फिर भी क्रोधादिक भाव जीव के ज्ञान, आनन्द आदि भावों को घातने वाले हैं। ज्ञान आनन्द को ही नहीं जीव की प्रभुता को घातने वाले हैं। जीव की पवित्रता को घातने वाले हैं। जीव के बल को घातने वाले हैं। बाहर से यदि देखें तो जीव के पुण्य एवं प्रभाव को भी घातने वाले हैं।

बहुत से लोग सोचते हैं कि क्रोधादिक भावों से अनुशासन होता है, लेकिन क्रोध से अनुशासन नहीं होता। अनुशासन होता है पवित्रता और पुण्य से। क्रोधादिक भावों से तो अनुशासन भंग होता है। ऊपर का भय केवल दिखाई देता है वास्तव में वह अनुशासन नहीं है। अनुशासन के नाम पर भी लोग क्रोधादिक करते हैं, किन्तु क्रोधादिक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि क्रोधादिक करने से जीव के स्वाभाविक भाव, ज्ञान, सुख, प्रभुता, बल इत्यादि गुणों का घात होता है। वास्तव में कहें तो इन गुणों को प्रगट नहीं होने देते हैं। **क्रोध से जीव कमजोर होता है। कषायों से जीव कमजोर होता है, कषायों के त्याग से जीव बलवान होता है।**

उत्तम क्षमा का स्वरूप गहराई से विचार करना चाहिये – जब यह जीव अपने को आत्मा समझता है और जगत के सब जीवों को आत्मा समझता है तब क्या होता है? ज्ञान शुष्क नहीं होता। जब जीव अपने को आत्मा अनुभवता है तब सुख होता है। सुख होता है का अर्थ है खेद नहीं होता। खेद नहीं होने का अर्थ है क्रोध नहीं होता। क्रोध कब होता है? जब कोई बात सुनते हैं, देखते हैं, नहीं सुहाती है खिन्नता होती है तभी तो क्रोध होता है। जब यह जीव अपने को आत्मा समझता है तब जीव की परिणति में आनन्द का वेदन होता है। आत्मा का अनुभवन और सुख का वेदन अविनाभावी हैं।

पाण्डे राजमलजी की भाषा में बोलें तो शुद्ध जीव के जानने पर जाननहारे को ज्ञान भी है और सुख भी है। प्रयोजन की अपेक्षा सुख कहा। यदि इसको और आगे बढ़ायें तो शुद्ध जीव को जानने पर जाननहारे को ज्ञान भी है, सुख भी है, प्रभुता भी है, बल भी है। आचरण की भाषा में बोलें तो क्षमा भी है, मार्दव भी है, आर्जव भी है सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, ये सब भी हैं। शुद्ध जीव के जाननहारे को ज्ञान होता है, सुख होता है। इसका मतलब यह है कि जब तक यह जीव अपने को आत्मा नहीं जानता, आत्मसन्मुख नहीं होता तब तक न ज्ञान होता है, न सुख होता है, न धर्म होता है न धर्म के लक्षण होते हैं।

आज हम जितनी शिकायत करते हैं और जीवन में जितने विकल्पों के ढेर लगाये बैठे हैं। उन सबका कारण यही है कि अपने को आत्मा नहीं समझना, आत्मज्ञान का अभाव। **पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में दुःख होता है**

और वह दुःख आत्मज्ञान से ही मिटेगा और कोई उपाय नहीं है। जितने भी विकल्प होते हैं जितनी भी खिन्नता होती है, दुःख होता है सब आत्मज्ञान के अभाव में होते हैं।

क्रोध के अभाव के लिये व्यवहार से यह विधि कही जाती है।

विचार करें कि हम आत्मा हैं, तब क्या हो सकता है? हम सोचते हैं कि इसने ऐसा किया, इसने ऐसा कहा, तो तुम हमसे ऐसा बोलोगे? तुमने हमारा इतना नुकसान कर दिया। विचार करो! कहने वाला वह नहीं है और सुनने वाले तुम नहीं हो। जिसने कहा वह भी दिखाई नहीं देता है और जो दिखाई दे रहा है वह तो शरीर है। यदि आप अपने को शरीररूप नहीं मानते होते, तो आपको कैसे लगता कि यह मुझसे कहा है? जैसे आपने एक नाम रखा, सम्बोधन के लिये, नाम निक्षेप से। अब यदि कोई दूसरा नाम लेकर बुलाये आपको तो, आपको यह नहीं लगता कि मुझे बुलाया जा रहा है। यदि आपने अपने को आत्मा माना होता, तो आत्मा को कौन कह सकता है? आत्मा को कोई गाली देकर के बताये! आत्मा की निंदा करके बताये! क्या कहे, कैसे कहे? पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि **'माम-पश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।'** अर्थात् मुझको जो देखते ही नहीं हैं, जिन्होंने मुझे देखा ही नहीं है वो मुझे क्या कहेंगे, क्या निंदा करेंगे? और **'मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः'** जो मुझको भलीप्रकार से देखते हैं, वे भी मेरे शत्रु-मित्र नहीं हैं।

व्यवहार की भाषा तो ऐसे ही बोलेंगे कि आपको क्रोध आ गया और क्रोध में आप जो चाहे सो बोलने लगे, करने लगे।

यदि हम आपको देखें तो क्या देखेंगे? ये कर्मजनित अवस्थायें हैं। यह तो बिचारा भूला भगवान है, इसके भीतर भी तो चैतन्य भगवान जैसे का तैसा है।

यदि कोई व्यक्ति गर्मी के कारण बेहोश होकर गिर जाये तो आप तो यह सोचेंगे कि जाने क्या हो गया इसको? अगर कोई वैद्य देखेगा तो क्या देखेगा? थोड़ी सी गर्मी है, थोड़ा पानी छिड़को। यानि उसने देखा कि यह सब ऊपरी है, भीतर कुछ नहीं है।

आप पढ़ते हैं '**मैं जो हूँ वह हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान, अन्तर यही ऊपरी जान।**' नास्ति क्या होगी इसकी? '**अन्तर नहीं भीतरी जान**' अन्तर ऊपर का है, इसका मतलब है – अन्दर अन्तर नहीं है। डिजाइन अलग-अलग हैं, कपड़ा एक ही भाव का है, कोई अन्तर नहीं है। 'अन्तर यही ऊपरी जान।' आप आगे पढ़ लेते हो, पढ़ लो! लेकिन पहले नास्ति से समझो! इसका मतलब है 'अन्तर नहीं भीतरी जान।'

आपने दृष्टान्त सुना होगा। हाथी पर बैठकर राजा निकल रहा था और एक शराबी शराब के नशे में पूछ बैठा – क्यों रे रजुआ, हाथी बेचेगा? कितने में देगा? राजा को थोड़ा-सा बुरा लगा। उसने मंत्री से पूछा कौन है, क्या कह रहा है? मंत्री ने कहा – कल दरबार में बुलाकर बात करेंगे। दरबार में बुलाया। क्यों भाई हाथी खरीदोगे? वह हाथ जोड़कर बोला – आप कहाँ हम कहाँ? कल क्या हुआ था? मंत्री समझ रहा है कि ये नहीं बोल रहा था, मदिरा बोल रही थी। ऐसे ही ये क्रोधादिक हो रहे हैं। 'माम् प्रपश्यन्नयं'। मुझे उत्कृष्टपने देखने वाला, स्वभाव से देखने

वाला, क्या देखेगा? यह क्रोध अवस्थारूप परिणमन कर रहा है, वह कर्म जनित अवस्था है। ये ऐसे पटक रहे हैं, ये ऐसे उठा रहे हैं, ये कोई और है।

''जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाने वो हि आत्मा ज्ञानि है।।''

मात्र जानने की बात कर रहे हैं। जानने का अर्थ है भिन्न जाने। जो मात्र जाने, क्या जाने कि यह कर्म का परिणाम है, नोकर्म का परिणाम है अर्थात् मेरा परिणाम नहीं है। ये मेरा स्वरूप नहीं है, ये जो चेष्टायें हो रही हैं – आँखें लाल-पीली, ये नोकर्म का परिणाम है। ये भीतर जो खिन्नता है, क्षोभ है वह कर्म का परिणाम है। इसके भीतर जो चैतन्य मात्र परिणाम है, चित्स्वरूप है वह मैं हूँ। तभी तो उस सिंह को जो ऐसे फाड़ कर खा रहा था हिरण को, आपकी तो हम क्या कहें, हम भी यदि वहाँ होते तो, खड़े रहना मुश्किल था। वह सिंह हिरण को फाड़कर खा रहा था और वे मुनिवर वहाँ आये और आकर खड़े हो गये। सम्बोधन किया। किसके बल पर?

हे मृगराज! तू सिंह नहीं है, तू जीवराज है। 'माम् प्रपश्यन' 'तम् प्रपश्यन' माने उसको किस दृष्टि से देख रहे हैं। विचारना! जब उस दृष्टि से देख रहे थे तो उसप्रकार का परिणाम नहीं आया जिसे क्रोध कहते हैं और वह अपने भूले हुये आत्मस्वरूप को समझकर एकदम विनयवान हो गया। सम्यक्त्वरूप परिणम गया, तो कर्तृत्व के अहंकार का वह परिणाम नहीं आया जिसे मान कहते हैं। किसके बल से, किसके आश्रय से? धर्म-धर्मी के आश्रय से होता है, किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता!

जिसे अपने ध्रुव तत्त्व का, जीव तत्त्व का आश्रय वर्तता है, दृष्टि वर्तती है, लक्ष्य वर्तता है उसे उसप्रकार के क्रोधादिक परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते हैं।

आप घर में रहते हैं। आपकी छोटी बहन है। दो वर्ष का अन्तर है। आपके बराबर की है। उसकी शादी हो गई। आपके घर आई। उसे देखकर कामादिक के परिणाम उत्पन्न नहीं होते। आप बैठे हैं वह आपके पास आकर बैठ गई। भाई! तुम बहुत कमजोर हो गये हो। बहुत दिनों से तुमने कोई खबर नहीं दी। बिल्कुल पास बैठ गई आकर। घर-गृहस्थी में ऐसे ही होता है। आपका भी कोई खोटा भाव नहीं है और उसका भी कोई खोटा भाव नहीं है। कोई उससे कहे? तुम यहाँ कैसे बैठ गईं। वह बोली हमारे भाई हैं। मतलब जब बहिन, बहिन दिखती है तब काम का भाव ही उत्पन्न नहीं होता। भाई, भाई दिखता है तो काम का भाव उत्पन्न ही नहीं होता।

ऐसे ही जब ज्ञायक, ज्ञायक दिखता है, तब क्रोधादि भाव नहीं होते, क्षमादि भाव सहज वर्तते हैं, खेंचकर या सोच-सोच कर लाने नहीं पड़ते। ऐसे ही ज्ञानी को भेदज्ञान वर्तता है, तो उसे रट-रट कर याद नहीं करना पड़ता। वैराग्य को उसे खींच-खींच कर लाना नहीं पड़ता। क्षमा आदि लक्षणों को प्रगट नहीं करना पड़ता, अपने आप वह लक्षण वर्तते हैं। जब स्वस्थ होता है, तो स्वास्थ्य के लक्षण होते हैं और जब बीमार होता है, तो बीमारी के लक्षण होते हैं। ऐसे ही जब जीव परसन्मुख होता है, तब क्रोधादिक के लक्षण होते हैं और जब स्वसन्मुख होता है, तब क्षमादिक के लक्षण होते हैं। एक-एक दोष को टालना नहीं

पड़ता, एक-एक कषाय को मेंटना नहीं पड़ता। एक-एक गुण को खेंच-खेंच कर लाना नहीं पड़ता।

कारीगर कितनी मेहनत से मकान बनाते हैं। एक-एक ईंट लगानी पड़ती है लेकिन इस तरह आत्मा में एक-एक गुण प्रगट करने पड़ते हों, ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन आता है, तो सम्यग्दर्शन के लक्षण आते हैं।

लोगों को आज शिकायत है कि क्या करें लोगों में वात्सल्य नहीं है। वात्सल्य क्यों नहीं है? क्योंकि हम अपने को और दूसरों को असमानजातीय पर्यायों से, संयोगों से देखते हैं। यदि हम अन्तर्दृष्टि से देखने लगें तो वात्सल्य समाये नहीं। सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् जब हम अपने को आत्मा देखते हैं और सबको आत्मा देखते हैं, तब स्वयमेव निशंकता आती है, निर्वांछिकता अपने आप आती है।

तेज गर्मी पड़ रही हो और पानी बरस जाए तो ठण्डक अपने आप आती है। नीचे से भी ठण्डक और ऊपर से भी ठण्डक। जब मूसलाधार पानी बरसे तो और ठंडक आती है। यदि पानी नहीं बरसे और हम हवा भी करें, पंखा भी लगा दें तो, पंखा की हवा भी गर्म निकलती है। ऐसे ही यदि हम आत्मदृष्टि नहीं करें और सोचते रहें, समझते रहें, पढ़ते रहें, तो प्रसंग-प्रसंग के अनुसार कषाय मन्द हो जाती है, कभी तीव्र हो जाती है। सच पूछो तो वे क्षमादिक भाव आते ही नहीं हैं। ऊपर का शिष्टाचार हो जाना अलग बात है, अन्दर का व्यवहार हो जाना अलग बात है। **परमार्थ दृष्टि होने पर परमार्थ का व्यवहार होता है।**

ये दश धर्म, ये दश नहीं हैं। धर्म तो एक ही है। वह है

साम्य भाव, आत्मा की सम्यग्दर्शन–ज्ञान पूर्वक होने वाली सहज वीतराग दशा। मात्र ज्ञाता–दृष्टारूप परिणति। मोह–क्षोभ से रहित दशा। उसके यह दश लक्षण हैं।

किन–किन बातों से अपने को हम ज्ञानी और धर्मात्मा मान बैठते हैं, कम से कम यह भ्रम तो टूटना ही चाहिये। अगर हम दो चार क्रियाएँ कर लेते हैं, तो हम मान लेते कि हम पुण्यात्मा हैं और वे पापी हैं, फिर हम अपने को दूसरों को सम्बोधन का अधिकारी मान लेते हैं। अपनी परिणति अंतर्मुख करने के लिये प्रयत्नशील नहीं रहते। धर्म का लक्षण यह नहीं है कि हम कितनी देर पूजा करते हैं, कितनी देर तक स्वाध्याय करते हैं, कितना पढ़ते हैं, कितना सुनते हैं, यह बात नहीं है। **यह उपदेश, उपवास आदि क्रियाएँ तो देहाश्रित हैं, इनसे धर्मात्मा का माप नहीं करना। अपने को भी धर्मात्मा मानने का भ्रम नहीं कर लेना।**

धर्म के दश लक्षण हैं। इन लक्षणों से धर्म की प्रसिद्धि होती है। मतलब यह है कि हर परिस्थिति में, चाहे कोई द्रव्य हो, कोई क्षेत्र हो, कहीं भी हो, कोई भी समय हो, रात में हो, दिन में हो, हम शान्त रह सकें, सहज रह सकें, क्षोभ उत्पन्न न हो, क्रोधादिक भाव उत्पन्न न हों, तब समझना चाहिये कि हम धर्म की ओर कुछ बढ़ रहे हैं। प्रतिकूलता होने पर हम कहने लगते हैं, कोई किसी का नहीं है, सबको देख लिया हमने। मतलब होता है तब पण्डितजी–पण्डितजी करते हैं, बाकी कुछ मतलब नहीं है। फालतू की बातें हैं ये! सब मतलब के हैं। **अनुकूल प्रवर्तने पर यदि ऐसा लगे कि कोई किसी का नहीं है तब**

हमें लगना चाहिये कि भेदज्ञान की भूमिका बनी है, पात्रता बनी है। अनुकूल प्रवर्तने पर हमें लगता है कि ये अपने आदमी हैं, अपना बेटा है, अपनी बेटी है, अपना घर है। यहाँ तो ऐसा लगता है कि बिल्कुल अपने घर में आ गये। अनुकूलता में कैसा लगता है? प्रतिकूलता में लगता है कि जाने कहाँ आ गये, कुछ तो है ही नहीं यहाँ। कहाँ आ फँसे? अनुकूलता में लगता है कि अपने घर आ गये। पण्डित टोडरमलजी साहब ने बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। प्रसंगानुसार सच्ची बातें बनाते हैं। **प्रसंगानुसार सच्ची बातें बना लेना, कह लेना अलग बात है और अन्तर में उसकी सहज धारा वर्तना अलग बात है। यह अन्तर में वर्तने वाली सहज धारा की चर्चा है।**

पर्व नाम पवित्रता का है। पर्व दिनों में नहीं होते। क्षमावाणी वाला दिन कौन सा होता है? पर्यूषण के बाद। अरे, जिस दिन हमारे हृदय में क्षमा न समाये और वाणी में आ जाये। नहीं तो क्षमावाणी तो सच्ची है, मेरे लिये क्षमावाणी नहीं है। यदि आपके घर में दीपक जलाने को घी नहीं है, रोटी खाने के लिये गेहूँ नहीं है तो आपकी दिवाली कब है सोचो! आज दिवाली है। होगी, दिवाली तो वहाँ हो रही है। अपनी क्या दिवाली? बच्चों की तबीयत ठीक नहीं है, इलाज के लिये पैसा नहीं है।

लोगों को शिकायत है कि त्यौहार फीके पड़ते जा रहे हैं। लोगों को अपने टेंशन से ही फुर्सत नहीं है। इसलिये फीके पड़ गये। पवित्रता की बात अलग है। पुण्य भी फीके पड़ गये। दिवाली, दिवाली जैसी लगती नहीं है। ऐसे ही आज क्षमावाणी पर्व है। लगता नहीं है क्षमावाणी जैसा। लगे कैसे? पर्व दिनों में

नहीं है। जिस दिन वह पर्व प्रकट होता है। पर्व माने पवित्रता, जिस दिन पवित्रता प्रकट होती है वह क्षमावाणी पर्व कहलाता है।

सामायिक की चर्चा में लिखा है कि श्रावक दो घड़ी का नियम लेकर समता भाव का अभ्यास करता है, उसे सामायिक कहते हैं। मुनियों को तो सदाकाल सामायिक वर्तती है। ऐसा नहीं है कि जब श्रेणिक ने माथा चरणों में रख दिया तब मुनिराज ने क्षमा की हो। जिस समय उसने उपसर्ग किया, शिकारी कुत्ते छोड़े, सर्प डाला, उस समय भी उन्हें क्षमा वर्त रही थी। वे जानते थे ये सब कर्म जनित अवस्थायें हैं। इस काल में भी **''मैं तो ज्ञाता हूँ तेजपुंज चिन्मात्र हूँ''** – यह भी ज्ञायक है, भूल गया तो क्या हुआ। भूलने से सोना पीतल नहीं हो जाता है। ऐसे अन्तर में विराजमान अपने परमेश्वर को भूल गया, लेकिन वह परमेश्वर परमात्मा कोई जड़ नहीं हो गया। अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि सर्व प्रकार से प्रसन्न हो! जीव जड़ नहीं हो गया और जड़ चेतन नहीं हो गया।

ये क्षमादिक धर्म लक्षण हैं। चर्चा करने के लिये कोई क्रम चाहिये, कोई निमित्त चाहिये। इन्हें समझने के लिये कोई भेद शैली चाहिये। समझने-समझाने के लिये क्रम का सहारा तो लेना ही पड़ता है। धर्मी के आश्रय से धर्म स्वयमेव प्रगट होता है और धर्म प्रगट होने पर ये दश लक्षण अपने आप आ जाते हैं।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम मार्दव धर्म

उत्तम मार्दव धर्म की चर्चा पण्डित सदासुखदासजी ने 'वचनिका' में भावना अधिकार के अन्तर्गत की है। भावना अधिकार का प्रारम्भ करते हुये पण्डितजी ने कहा कि सकल धर्म का मूल भावना है। भावना का अर्थ है बारम्बार विचार करना। भावना का प्रयोजन वीतरागता है। दोनों वाक्यों को मिलायें तो उनने भावना की परिभाषा करते हुये कहा है कि - संसार देह भोगों से विरक्तता के लिये उनके स्वरूप का बारम्बार विचार करना, वह भावना कहलाती है। 'भावना भवनाशनी' ऐसा इसका फल कहा है।

भावना और भावुकता दोनों बातें एकदम अलग हैं। अज्ञान में भावुकता होती है और भावना ज्ञानपूर्वक होती है। सम्यग्ज्ञान-पूर्वक आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये बारम्बार जो आत्मतत्त्व का विचार करते हैं, जहाँ हम अनादिकाल से अटके हैं, उन पर्यायों का, संयोगों का, अनित्य, अशरण और दुःखरूपता से विचार करते हैं, वे सब भावना के अन्तर्गत हैं। भावुकता का मतलब यह है कि कोई बात सुनी, पढ़ी, फिर न आगे सोचा न पीछे सोचा और करने लगे। ज्ञानी के इस ज्ञानमय मार्ग में भावुकता को, कोई अवकाश नहीं है।

जहाँ '**चारित्तं खलु धम्मो**' कहा, वहाँ उस चारित्र को साक्षात् धर्म कहा, जिसका मूल सम्यग्दर्शन है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है। ये शब्द हमने इसलिये कहे क्योंकि इन धर्मों की चर्चाओं का बारम्बार जीवन में इसप्रकार से विचार

करना चाहिये कि जिसप्रकार से अपने मानादिक भाव टूटें और मार्दव आदि भाव अपने जीवन में प्रकट हों।

चर्या के लिये चर्चा आवश्यक है, चर्या का पक्ष करके चर्चा-चर्चा से क्या होता है - ऐसा मानना ठीक नहीं है। **चर्चा के बिना चर्या संभव नहीं है और चर्या के बिना चर्चा सार्थक नहीं होती।** मतलब यह है कि लौकिक में भी कोई काम करना हो तो पहले उसकी चर्चा चलती है फिर निर्णय लेते हैं। निर्णय लेने के बाद उसका उद्यम होता है तब चर्या अर्थात् आचरण होता है। **न तो हम चर्चा की उपेक्षा करें और न केवल चर्चा में अटक जाएँ, भावनापूर्वक अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये अन्तर्मुख प्रयत्न हमारा निरन्तर चलना चाहिये।**

मान कषाय से आत्मा में जो कठोरता आती है, उस कठोरता का अभाव होने पर जो कोमलता होती है, वह आत्मा का मार्दव नाम का गुण है। यहाँ गुण का अर्थ निर्मल परिणति समझना चाहिये। गुण का अर्थ एक तो द्रव्य-गुण-पर्याय में जो गुण है, जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में एवं सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है वह है। दूसरा गुण का अर्थ - जैसे श्रावक के आठ मूलगुण, सम्यग्दर्शन के आठ गुण, मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण, आचार्य के छत्तीस गुण, उपाध्याय के पच्चीस गुण, अरहन्त के छियालिस गुण, सिद्ध भगवान के आठ गुण - ये सब कहवत के हैं, बाद-बाकी आत्मा के अनन्त गुण हैं और अनन्त गुणों की निर्मल परिणतियाँ हैं।

सच पूछो तो सम्यग्दर्शन सर्व गुणांश है। जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई, तब अकेला

सम्यग्दर्शन ही प्रगट नहीं हुआ, उसके साथ अन्य सभी गुणों का अंश भी होता है।

एक बार ऐसी चर्चा आई कि सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तानु-बन्धी कषाय का अभाव होता है। चार कषाय चौकड़ी की सोलह प्रकृतियाँ हैं। जब अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है, तो गणित के हिसाब से चौथाई कषाय मिट गई, लेकिन ऐसा नहीं है। **सच बात तो यह है कि अनन्तानुबन्धी के चले जाने पर संसार समुद्र चुल्लुभर रह गया।** जैसे एक युद्धक्षेत्र में मानो 10 लाख सेना है, इनमें एक सेनापति है और एक राजा है। यदि एक राजा नहीं रहा, तो एक राजा के न रहने पर क्या होगा? एक सेनापति के नहीं रहने पर क्या होगा? अभी यहाँ से दो-चार आदमी पीछे से उठकर चले जाएँ तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा और पण्डितजी के, वक्ता के चले जाने पर क्या होगा? वक्ता मूल है न। अनन्तानुबन्धी ही गई है, ऐसा नहीं है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन की भी सब कड़ियाँ टूट गईं। यहाँ तक लिखा है कि ये तीन चौकड़ी जली जेबरी समान हो गई।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का रागांश ऐसा समझो - वे गृहस्थी के बन्धन में, परिग्रह के बन्धन में दिखते हैं लेकिन वह बन्धन ऐसा है, जैसे हाथी को कमल नाल से बाँध दें। वह हाथी बंधा दिखता है लेकिन उसके बंधे होने में ऐसा कुछ नहीं है। वह जब भी पैर उठायेगा तो वह कमल नाल टूट जाएगी। लगता है कि यह छह खण्ड का वैभव, छ्यानवे हजार रानियाँ, लेकिन जब छोड़ा तो पीछे मुड़कर नहीं देखा। उनके अन्तर में निर्बन्ध स्वभाव का बल है, भेदज्ञान की सहज धारा वर्तती है। भेदज्ञान की सहज

धारा के कारण वे निर्लिप्त रहते हैं – यह रहस्य समझना लौकिक जीवों के बस की बात नहीं है।

मान कषाय के कारण आत्मा में कठोरता होती है। कठोरता होने का अर्थ परिणाम में कठोरता होती है। **अपनी ओर देखने से परिणाम सुधरते हैं और पर की ओर देखने से परिणाम बिगड़ते हैं।** मान कषाय से परिणाम में कठोरता आती है। अपने को देहरूप मानने से परिणाम कठोर हो जाते हैं। जैसे कठोर भूमि में अंकुर नहीं फूटते, बीज नहीं उगते, बीज बोने पर वह बीज बेकार हो जाता है, ऐसे ही परिणाम में कठोरता होने से देशना फलवती नहीं होती।

पंचलब्धियों में क्षयोपशम लब्धि पहली है, फिर विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण मिलाकर पाँच लब्धियाँ हैं। देशना और विशुद्धि का कुछ सम्बन्ध है। विशुद्धि के बिना देशना फलवती नहीं होती। विशुद्धि होने पर जब देशना मिलती है तब यदि विचार चिन्तन चले, भेदज्ञान की धारा चले और उपयोग अन्तर्मुख हो तो काम बने। कठोर भूमि में तो कुछ होता नहीं है, कोमल भूमि में भी पानी बरसे और भूमि अच्छी हो, तब उसमें दो बातें होती हैं – यदि इसमें बीज बो दिया जाए तो फसल आयेगी नहीं तो घास-फूस होगी, इसीप्रकार कषाय की मन्दता हुई और यहाँ आकर बैठ गये, यदि निर्णय में उपयोग लग गया, परिणति अन्तर्मुख हो गई तो रत्नत्रय प्रकट हो जाएगा और यदि मन्द कषाय में सन्तुष्ट हो गया, सुनकर रह गये तो पुण्य के बन्धरूपी घास-फूस होगी। पुण्य के उदय में पुण्य संयोग सामग्री मिलेगी।

आत्मा में कठोरता का अर्थ क्या समझना चाहिये? एक समय के परिणाम में कठोरता आ गई है। कठोरता का अभाव होने पर जो कोमलता होती है, वह मार्दव नाम का आत्मा का गुण है। यहाँ गुण का अर्थ निर्मल दशा है, यह आत्मा की विशेषता है। आत्मा और मान कषाय के भेद का अनुभव करने से मार्दव प्रकट होता है।

मान कषाय के अभाव का उपाय क्या है? किसी के अभाव का उपाय है उसकी उपेक्षा। जब तक हम उसको अपना मानते रहेंगे और अपने लिये सुख स्वरूप मानते रहेंगे तब तक उसका अभाव संभव नहीं होता। आत्मा और मान कषाय के भेद का अनुभव करने कहा है। अनुभव शब्द आया है तो अनुभव का अर्थ क्या है? अनुभव और जानकारी में अन्तर है। पढ़ने, सुनने से मात्र जानकारी हुई कि मान कषाय भिन्न है और आत्मा भिन्न है।

मान कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह तो आत्मा का वैभाविक परिणाम है, घातक परिणाम है। मान कषाय और आत्मा का कोई सम्बन्ध है? समयसार गाथा 72 एवं 74 के अनुसार वध्यघातक सम्बन्ध है। जैसे लाख पीपल के वृक्ष में होती है, लेकिन वह लाख पीपल के वृक्ष को घातती है। ऐसे ही यह मान कषाय जीव की परिणति में होने पर भी जीव के ज्ञान, आनन्द को घातती है, इनके साथ प्रभुता, बल आदि अनन्त गुणों का घात भी समझ लेना चाहिये। मान कषाय उनका घात करने वाली है। शास्त्र से पढ़कर कहे कि मान कषाय भिन्न है और आत्मा भिन्न है - इतने मात्र से मार्दव धर्म नहीं हो

जाता। मान और आत्मा के भेदज्ञान का अर्थ - आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान! और जब मान कषाय के भेदज्ञान की बात आई तो मान के निमित्त जाति-कुल आदि को भी इसके अन्तर्गत समझना चाहिये। आत्मा और आस्रव की भिन्नता का अनुभव करने को कहा है, तो सोचो कि अनुभव किसका नाम है? कलश-टीका में आया है - वेद्य-वेदक भाव से आस्वादरूप ज्ञान को अनुभव कहते हैं। नाटक समयसार में कहा है -

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम।।

वस्तु का विचार करते हुये पर से हटकर मन अपने स्वरूप में एकाग्र होता है, विश्रान्त होता है, आत्म रस का स्वादन होता है, उसका नाम अनुभव है। इस दोहे में अनुभव का स्वरूप भी आ गया और अनुभव की विधि भी आ गयी।

अनुभव के लिए वस्तुस्वरूप का विचार करना चाहिये। जब हम वस्तुस्वरूप का विचार करेंगे तब हमारा उपयोग जो बाहर भ्रमता था, वह वहाँ से हटकर स्वरूप में एकाग्र होगा और जब एकाग्र होगा तो एक आत्मा का ग्रहण होने पर विश्राम मिलेगा। 'मन पावे विश्राम।' जब मन ने विश्राम किया तब 'रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम'। मतलब आत्मा और मान कषाय के भेद को जानकर अनुभव होता है। अनुभव ज्ञान ही ज्ञान है, आत्मज्ञान, अनुभव ज्ञान एक ही बात है।

सैंतालीस शक्तियों में ज्ञान से सम्बन्धित दो शक्तियाँ हैं। प्रकाश शक्ति और स्वच्छत्व शक्ति। स्व-संवेदनरूप प्रकाश शक्ति और ज्ञेय के आकार झलकनेरूप स्वच्छत्व शक्ति। ज्ञान में दो

रूप हैं। जिस ज्ञान में, 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा अभिन्नपने अनुभव में आता है और समस्त पदार्थ भिन्नपने झलकते हैं, उस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं।

आत्मा से अभिन्न हुए बिना उपयोग में 'यह आत्मा मैं हूँ' – ऐसा जानने में आए बिना; शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न हैं, रागादिक भिन्न हैं, यह सब आस्रव भाव हेय हैं – **यह सब शास्त्र के आधार से जाना जा सकता है, इन पर चर्चा भी हो सकती है, चिन्तन भी हो सकता है, लेकिन भावभासन नहीं हो सकता।** किसके बल पर कहते हो कि शरीर हम नहीं हैं। कोई अस्ति आएगी न! अस्ति के ज्ञान पूर्वक नास्ति का ज्ञान होगा कि मैं आत्मा हूँ; इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ यह बात इसमें आ गई।

पर का ज्ञान भी पर के आश्रय से नहीं होता। हम तो आत्मा का ज्ञान भी पढ़-पढ़ के या सुन-सुन के करना चाहते हैं। बहुत लोग तो कहते हैं कि महाराज आज तो आत्मा दिखा ही दो हमको, आज तो हमें आत्मा देखना ही है। भाई! यदि आत्मा को देखना ही है तो यह कोई दिखा दे, ऐसा नहीं है। इसे अन्तर्मुख होकर देखा जाता है। सच बात तो यह है कि जब तक आप इधर-उधर देखते रहेंगे तब तक तो आत्मा दिखेगा नहीं और अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को देखने वाले श्रीगुरुओं की ओर भी जब तक देखते रहेंगे तब तक भी आत्मा नहीं दिखेगा। आत्मा अन्तर्मुख उपयोग में ही ग्रहण होता है।

आत्मा और मान कषाय के भेद का अनुभव करके – यहाँ चरणानुयोग पद्धति का कथन है। अनुभव करके याने भली प्रकार से प्रतीति करके, समझकर के। यह मान कषाय हमारी

झूठी है। पूजनकार की भाषा में अगर कहें तो '**मान करन को कौन ठिकाना**' मान करने के लिये अवसर ही कहाँ है। जिनको हम अपना मान रहे हैं और जिनसे हम अपने को बड़ा मान रहे हैं या जिनसे हम स्वयं को हीन अनुभव कर रहे हैं, वे अपने हैं ही नहीं। ध्यान देने की बात यह है कि अपने को बड़ा या हीन मानना दोनों ही मान कषाय हैं। ज्ञान का क्षयोपशम अधिक है और अपने को विशेष ज्ञानी मान रहे हैं - "यह तो मान कषाय है ही और यदि क्षयोपशम कम है, ये तो बड़े विद्वानों की बातें हैं, अपन क्या समझें, अपन तो कुछ जानते ही नहीं हैं" - यह भी दीनतारूप मान कषाय है। जैसे - स्टॉक की या हिसाब-किताब की चैकिंग करें, तो दो प्रकार से चेकिंग होती है - एक तो स्टॉक की और एक रजिस्टर की। यदि स्टॉक रजिस्टर में दर्शाये माल से कम माल है तो बेईमानी है और यदि अधिक है, तो भी बेईमानी है। यदि वह कहे कि साहब! ज्यादा ही तो है, कम तो नहीं है। तब प्रश्न होगा कि ज्यादा क्यों है? इसका मतलब क्या है? कम भी नहीं और ज्यादा भी नहीं।

शास्त्रों में मान कषाय की चर्चा में आया है कि मान अष्टाश्रित है। क्या मान आठ प्रकार के होते हैं? मान आठ प्रकार के नहीं होते। सच पूछो तो मान के निमित्त आठ प्रकार के हैं। आठ भेदों में मान एक ही प्रकार का है। आठ भेद तो मान के आश्रय गर्भित समझना चाहिये। **आठ निमित्तों के आश्रय से मान हुआ; यदि इधर से कहें तो आत्मा के अनाश्रय से मान कषाय होती है।**

विचारने योग्य बात तो यह है कि हम आत्मा को पर के

लक्ष्य से देखना चाहते हैं, पढ़-पढ़ के या सुन-सुन करके सब लोग आत्मा को देखना चाहते हैं। आचार्य महाराज तो यह कह रहे हैं कि पर का ज्ञान भी पर के आश्रय से नहीं होता, पर सन्मुखता से नहीं होता, आत्म सन्मुखता से होता है। ज्ञेय के दो भेद हैं, स्व ज्ञेय और पर ज्ञेय, लेकिन **ज्ञान के आश्रय दो नहीं हैं। ज्ञान का आश्रय एक ही है,** इसलिये सच पूछो तो भगवान भी आत्मस्वरूप के ज्ञाता हैं और जगत के साक्षी हैं। वे आत्मा को अभिन्नपने जान रहे हैं, अन्य पदार्थ तो ज्ञान में झलक रहे हैं। उनसे किंचित् मात्र भी अभिन्नता नहीं हैं। वे अत्यन्त भिन्न हैं। स्व और पर को जानने वाला ज्ञान दो नहीं हैं, ज्ञान तो एक ही है। **स्व का ज्ञान, स्व के साथ अभिन्न है और पर का ज्ञान पर के साथ अभिन्न है - ऐसा नहीं है, वह ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न है। स्व का ज्ञान स्व के साथ अभिन्न है और उसी ज्ञान की स्वच्छता में परपदार्थ भिन्न भासित होते हैं। उसी का नाम पर का ज्ञान है।**

जैसे कोई मशीन है, उसके बारे में अपन बहुत कम जानते हैं और उसका जो मिस्त्री है वह उसके एक-एक पुर्जे को जानता है। कोई खराबी आने पर वह तुरन्त ठीक कर देता है। उस मिस्त्री को मशीन का विशेष ज्ञान है। विशेष ज्ञान का अर्थ ज्यादा ज्ञान नहीं है। विशेष ज्ञान तो ज्ञानियों को होता है।

विशेष ज्ञान का अर्थ यह है कि जो भिन्न हैं वे भिन्न भासित हों। ज्यादा ज्ञान होने का नाम विशेष नहीं है। आपकी भाषा में यदि कहें तो विशेष ज्ञान का अर्थ क्वान्टिटी के अर्थ में नहीं है, बल्कि क्वालिटी के अर्थ में है। वह पत्थर विशेष है अर्थात्

इसकी जाति अलग है, गुण अलग है। जिस ज्ञान में आत्मा निजपने भासित होता है और शरीरादिक भिन्न भासित होते हैं और रागादिक दुःख के कारण भासित होते हैं, उस ज्ञान को विशेष ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान की पर्याय एक ही है, ज्ञान की दो पर्याय नहीं हैं। एक ज्ञान परिणति में ही आत्मा अभिन्न भासित हुआ और देहादिक भिन्न भासित हुए, उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसको आत्मा अभिन्न भासित नहीं हुआ, वह देखा-देखी कहता है कि देहादिक भिन्न हैं। मोक्ष को भी देखा-देखी उत्तम कहता है। संसार में भी देखा-देखी दुःख कहने लगा। पाप के उदय में थोड़ी प्रतिकूलताओं का विचार करके कहने लगा कि संसार में दुःख है, संसार असार है।

वास्तव में संसार की असारता भी सारभूत शुद्धात्मा के लक्ष्य बिना भासित नहीं होती। इसी शैली में देखा-देखी देह को भिन्न कहता है। देह की भिन्नता आत्मा से अभिन्न उपयोग हुए बिना, 'मैं आत्मा हूँ' - ऐसा अनुभव हुए बिना भासित नहीं होती। हम कहते रहते हैं कि मैं जीव हूँ और शरीर भिन्न है, लेकिन कहीं न कहीं हम भटकते रहते हैं। अगर हम यह पढ़ाने लगें तो आप कहोगे कि यह बात तो हम जानते हैं कोई और अच्छी बात बताओ।

कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है कि ये सब चर्चाओं के बाद भी लोग पूछते हैं कि कोई और अच्छी बात बताओ। अरे! इससे अच्छी क्या बात होगी? श्रीमद् रायचन्द्रजी ने कहा है - **जो सुना सो समा गया, कहने तक के लिये नहीं रुका।**

लेकिन वासना भीतर पड़ी है, तो विषय-कषाय की बातें ही अच्छी भासित होती हैं। सुनो, 'एक बढ़िया गाड़ी निकली है। सोने का यह भाव हो गया! तुमने सुना वह काम ऐसा हो गया।' अरे! लोग ऐसी बातों को अच्छी बातें कहते हैं।

अच्छी और बुरी की कल्पना छोड़कर पहले सच्ची और झूठी पहिचानो। देखा-देखी आप भी कहने लगे, यह बात अच्छी है, प्रवचन अच्छा है। पहले यह समझो कि यह बात सच्ची है और मेरी है, फिर अच्छी-बुरी कहना। आपसे पहले कहा था, **ज्ञानी भी विश्व को दो भागों में बाँटता है - स्व और पर, जबकि अज्ञानी भी विश्व को दो भागों में बाँटता है - अच्छा और बुरा, इष्ट और अनिष्ट।** शील रहित व्यक्ति की दृष्टि अच्छी और बुरी पर रहती है, सुन्दर और असुन्दर पर रहती है जबकि शीलवान की दृष्टि में स्व और पर रहता है। छहढाला में भी कहा है **'तास ज्ञान को कारण स्व-पर विवेक बखानो'।**

मान कषाय और आत्मा के भेद के अनुभव का अर्थ क्या हुआ? मान कषाय से भिन्न आत्मा का अनुभव! मान कषाय के प्रसंग में जैसे मान आया है वैसे ही क्रोध कषाय के प्रसंग में क्रोध की बात आयेगी। मानादि कषायों से भिन्न चिन्मात्र आत्मा का अनुभवन अर्थात् वेद्य-वेदक भाव से आस्वादरूप ज्ञान और ज्ञान के साथ वर्तने वाली साम्य भावरूप परिणति, उसी का नाम मार्दव धर्म है।

तात्पर्य यह है कि ये सब धर्म के लक्षण हैं। क्षमा, मार्दव आदि ये लक्षण ही तो हैं। अब इसका अर्थ क्या हुआ कि जो अपने को आत्मा रूप अनुभवता है, उसके परिणामों में कठोरता नहीं होती।

क्रोध की ओर से कहें तो उसके परिणामों में क्रूरता नहीं होती और ऐसी क्रूरता तो निचली भूमिका में भी नहीं होती, जिस क्रूरता और कठोरता में देव-शास्त्र एवं गुरुजनों की भी उपेक्षा हो जाए, अपना लक्ष्य ही भूल जाए। ऐसी क्रूरता का नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध और ऐसी कठोरता का नाम अनन्तानुबन्धी मान है।

पण्डित टोडरमलजी ने जब कषायों का वर्णन किया तो मन्दता से तीव्रता की ओर की चर्चा की है। जब जीव को मान कषाय का उदय होता है तब क्या होता है? अपने को ऊँचा दिखाने का भाव होता है। अरे, तुम तो सबसे ऊँचे हो भाई! लेकिन अपने आत्मा को सबसे ऊँचा नहीं देखता, संयोगों के बल से अपने को ऊँचा दिखाना चाहता है।

दुनिया को देखने ओर दिखाने की वृत्तियाँ काषायिक हैं। दुनिया को दिखाने का भाव वह मान कषाय है और दुनिया को देखने का भाव वह लोभ कषाय है, ज्ञेय लुब्धता है। अरे! किसको दिखा रहे हो और किसको देख रहे हो? **विश्व में यदि कोई देखने लायक है या दिखाने लायक है तो एक शुद्धात्मा ही देखने लायक है और शुद्धात्मा ही दिखाने लायक है।**

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी समयसार की पाँचवीं गाथा में एक शुद्धात्मा को ही दिखाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। हम शुद्धात्मा को ही देखते हैं और शुद्धात्मा को देखते हुये आनन्दित रहते हैं। तुम भी एक शुद्धात्मा को ही देखो और आनन्दित रहो। इस गाथा में यह बात एकदम हाथ पर रखे आँवले की भाँति स्पष्ट है कि एक शुद्धात्मा ही देखने लायक है और शुद्धात्मा ही दिखाने लायक है क्योंकि शुद्धात्मा को देखने से ही जीव सुखी होता है। अरे!

दिखना अलग बात है और देखने लायक अलग बात है। यदि रास्ते में चलते हुये गन्दगी दिख जाए तो क्या करें, दिखती है लेकिन क्या देखने लायक है? यदि अपने घर कोई मेहमान आ जाए तो 'चलो भाई! आपको वहाँ ले चलते हैं। देखने लायक है? देखने लायक का अर्थ जिसे देखकर अच्छा लगे, आनन्द आये, अब आप बतायें विश्व में किसको देखने से आनन्द आयेगा। **जिसको देखने से आनन्द नहीं आये तो वह देखने लायक तो नहीं है। जिसको देखने में आनन्द आता है, सुख होता है, वही देखने लायक है और वह है अपना शुद्धात्मा।** परमेश्वर भी अपने शुद्धात्मा को देखते हैं और आनन्दित रहते हैं और शुद्धात्मा को ही दिखाते हैं। बादबाकी ये बंगला, ये फलाने, ये कार, ये गाड़ी क्या ये देखने-दिखाने लायक हैं? सच पूछो तो ये सब मान कषाय की बातें हैं। यदि बाहर में देखता है - ये मकान, ये बंगला जो बनवाये हैं, उन्हें देखता है और दिखाता है और पूछता है कि यदि कोई एक भी कमी रह गई हो तो बताओ, लेकिन वह यह नहीं जानता कि एक क्या अनेक कमियाँ हैं।

यह मकान आपका नहीं हो सकता, आप इसमें हमेशा नहीं रह सकते। खाली करना पड़ेगा आपको। यदि वैराग्य की भाषा में कहें तो चाहे पड़े-पड़े निकलो, मर-मर कर निकलो, चाहे खड़े-खड़े निकलो, निकलना पड़ेगा। रहने की कोई व्यवस्था नहीं है। यह सोचता है कि देखें कौन निकालता है, हमारा मकान है। अब क्या कहें, कौन निकालता है। जिसने इस मकान में बसाया है, वही निकालेगा। जिस कर्म ने बसाया है, वही निकालेगा।

संयोग–संयोग है, संयोग ध्रुव नहीं होते, इसीलिये प्रवचनसारजी में आचार्य महाराज ने कहा कि शुद्धात्मा ही ध्रुवत्व के कारण उपलब्ध करने योग्य है। एक बार यदि शुद्धात्मा उपलब्ध कर लिया तो वह कभी जुदा नहीं होगा। अपना ही अपना होता है। पराये को अपना मानने पर भी अपना नहीं होता। क्या कहा? अपना ही अपना होता है, परद्रव्य अपना मानने पर भी अपने नहीं होते। अपना मानते रहो, मानने से क्या होता है? हमने मान लिया कि यह चौकी हमारी हैं, यह चटाई हमारी है, ये कपड़े हमारे हैं, यह मकान हमारा है। मानते रहो, मानने से होता क्या है? जो भिन्न हैं, वे भिन्न ही हैं। अपने मानने पर भी अपने नहीं होते हैं, तब फिर क्या होता है? पर को अपना मानने से पर तो अपने नहीं होते और जब अपना तिरस्कार होता है तब दुःख होता है, इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि इनके चक्कर में मत पड़ो। ये अपने कभी नहीं होंगे। ये तो छोड़ करके चल देंगे, तुम अपने को पहिचानो।

आत्मा और मान कषाय के भेद को अनुभव करके, मान कषाय को छोड़ना मार्दव धर्म है। इसमें छोड़ने की विधि भी आ गई। मान के आठ भेद आगम में कहे हैं। जाति का मान, कुल का मान, रूप का मान, बल, विद्या, प्रभुता या अधिकार, तप ज्ञानादि ये सब मान के निमित्त हैं। अब जाति का मद कैसे छूटेगा? जब एकेन्द्रिय आदि में पहुँच जाएँगे, तब अपने आप छूट जाएगा, ऐसा नहीं है। जीव, अपनी जाति को नहीं पहिचानता, जीव जाति को, चैतन्य जाति को नहीं पहिचानता, अपनी चैतन्य जाति का आश्रय नहीं करता, इसलिये शरीर की जाति का मान होता है। यदि आपने लोक में प्रतिष्ठित जाति में जन्म लिया है

तो आपको अभिमान आता है और यदि आपने लौकिक में वैसी कोई जाति में जन्म लिया है तो हीनता बनी रहती है, लेकिन ये मेरी जाति नहीं है, मेरी जाति तो भिन्न है। **अपनी चैतन्य जाति का आश्रय करने से जाति मद नहीं होता,** तो जाति मद का अर्थ क्या है? जाति के आश्रय से अपने को बड़ा-छोटा मानना। शरीर की जाति के आश्रय से जाति मद होता है। अब इधर से देखें तो आत्मा की जाति को पहिचाने बिना, चैतन्य जाति, जीव जाति को पहिचाने बिना, शरीर के आश्रय से, शरीर की जाति के आश्रय से अपने को बड़ा-छोटा मानने से जाति मद उत्पन्न होता है।

अब जाति मद कैसे छूटेगा? अपनी जाति को पहिचाने! अरे! हम तो चैतन्य जाति के हैं। ये सब भी चैतन्य जाति के हैं। जाति माने प्रकार! जैसे द्रव्य जाति अपेक्षा छह, संख्या अपेक्षा अनंत हैं। जाति आयी न! जीव अनन्त हैं, लेकिन जाति तो एक है। पुद्‌गल जाति में कार्माण वर्गणायें आदि चाहे कुछ भी हो, ये तो सब पुद्‌गल जाति के हैं। सब जीवों की जाति एक प्रकार है। जीव द्रव्य को पहिचाने बिना शरीर की जाति से अपने को बड़ा या छोटा मान लेता है। यदि जीव भी अपनी जाति को पहिचान ले तो ये जाति तो शरीर की है, जाति का मद जाति के आश्रय से हुआ है, अथवा तो अनात्मा के आश्रय से हुआ है, यह समझ में आ जाता है। कथन दोनों प्रकार से होता है। आत्मा का आश्रय नहीं होने से जाति के आश्रय से जो छोटे-बड़े होने की भावना होती है, वह जाति का मद है।

इसीप्रकार अपना कुल कौन-सा है? देह को अपना मानने वाला, देह के कुल को अपना कुल मानता है। जब देह ही

अपनी नहीं तो 'जहाँ देह अपनी नहीं तो कुल अपना कैसे होय, जाति अपनी कैसे होय?' जब देह ही अपनी नहीं है, तो देह का कुल अपना कैसे हो सकता है?

एक व्यक्ति ने कहा – पंडितजी, आपका एक फोटो चाहिये। लोग कहते हैं कि पण्डितजी अपना फोटो नहीं खींचने देते। हमने कहा – भाई! हमारा ही फोटो खींचना। ध्यान रखना कि हम कौन हैं? अरे! जो दिख रहा है वह हम नहीं हैं। यदि इस रूप को आप हमें मान लें, तो क्या होगा? विचार करो। आपका नाम, अरे! यह नाम हमारा नाम नहीं है, 'जहाँ देह अपनी नहीं, नाम हमारा कैसे होय, रूप हमारा कैसे होय?'

थोड़ा सा चिन्तन किया करो! दर्शन तर्क प्रधान होता है, जबकि धर्म भावना प्रधान होता है और भावना बार-बार विचारने का नाम है। आचार, विचार पूर्वक होता है। विचार बदलते हैं तो आचार बदलता है। विचार बदले बिना देखा-देखी कुछ भी किया जाए उसका नाम धर्म नहीं है।

देखो भाई! पक्ष नहीं पकड़ना। जैसे द्रव्यानुयोग का पक्ष होता है, वैसा ही चरणानुयोग का भी पक्ष होता है। चार-छह क्रियाएँ पकड़ लीं, वह भी कल्पना से, तो हम सोचते हैं कि हमारा चरणानुयोग का ठेका हो गया, चार-छह कोटेशन पकड़े, चार-छह वाक्य बोलना आ गया तो द्रव्यानुयोग का ठेका हमारा हो गया। ऐसा नहीं है भाई! चरणानुयोग में क्रियाओं के माध्यम से कथन होता है। क्रिया, परिणाम सुधारने के लिये होती है। यदि भावशून्य क्रिया की जाए तो उस भावशून्य क्रिया का कोई मूल्य नहीं है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा है –

'यस्माद् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।38।।'

भाव शून्य क्रिया फलवती नहीं होती। फल भाव का होता है, अकेली क्रिया का नहीं, इसलिये चरणानुयोग में भी भावों को ही सुधारने का उपेदश है। आज हमारा व्रत है। व्रत का मतलब क्या है? रोटी नहीं खाना, पानी नहीं पीना। अरे पानी नहीं पियोगे तो गर्मी में प्यास नहीं लगेगी? इसलिये आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है – उपवास के दिन धर्मामृत पीते हैं और पिलाते हैं – यह है चरणानुयोग!

व्रत किसे कहते हैं? यह तो बताओ! तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – **'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्'।** विरक्त होने का नाम व्रत है।

छहढाला में भी आया है –

'परब चतुष्ट्य माँहि पाप तज प्रोषध धरिये।' पाप तज आया है न! पाप तज, आत्म भज प्रोषध धरिये। यदि आप हिंसादि पापों से विरक्त नहीं हुये तो चरणानुयोग कैसा? चरणानुयोग को आपने क्रियाओं तक सीमित मान लिया। अन्तर परिणामों का भी तो कोई सम्बन्ध है या नहीं? भावात्मक दृष्टि से उसे पहिचानें।

अपने कुल को पहिचानने से ज्ञान होता है कि यह देह का कुल मेरा कुल नहीं है, तब मान कैसे होगा? अपनापन भासित हुये बिना, अपनत्व छोड़े बिना मान करके बतायें आप! किसी भी वस्तु का, पड़ोस का मान होता है? हाँ होता है – हमारा

पड़ोसी बहुत अच्छा है। हम तो पूरा घर उसके भरोसे छोड़ जाते हैं। कभी किसी चीज की जरूरत पड़े तो वह खुद दे देता है। इतना अच्छा पड़ोसी है। यह तो हमारा पुण्य का उदय है। वह पड़ोसी आपको अनुकूल भासित होता है, लेकिन अगर अच्छा भी है तो व्यवहार की एक बात और कहते हैं – अच्छे पड़ोसी चाहते तो सब हैं लेकिन अच्छा पड़ोसी बनना सीखो। हमारा पड़ोसी बहुत अच्छा है यह तो हम तब मानें जब वह भी कहे कि हमारा पड़ोसी बहुत अच्छा है। अगर आपका पड़ोसी बहुत अच्छा है तो आप उसका दुरुपयोग करना मत सीखो। आप अच्छे पड़ोसी बनो! अच्छा चाहते तो हैं लेकिन अच्छा बनते नहीं हैं।

यहाँ तो यह कहना है कि अच्छे पड़ोसी का मान हुआ कि नहीं? प्रतिकूल होता है तो क्रोध होता है और अनुकूल लगता है तो मान होता है, लेकिन पहले उसमें अपनत्व जोड़ता है। अपनत्व नहीं जुड़े तो जब अपना ही नहीं है तो अनुकूल-प्रतिकूल या अच्छा-बुरा कैसे होगा? मान के लिये अवसर ही नहीं है। 'मान करन को कौन ठिकाना।' जिनसे आप अपने को बड़ा या छोटा मानते हो तो पहले यह देखो कि वे अपने हैं भी या नहीं, वे अपने हो सकते हैं या नहीं? जब वे अपने नहीं हैं, अपने आत्म प्रदेशों में उनका कोई प्रवेश ही नहीं है, अपने परिणमन में उनका कोई हस्तक्षेप ही नहीं है, कोई बाधकपना या साधकपना ही नहीं है तब उनका मान करने से क्या लाभ होगा? **इसलिये यह भेदज्ञान का मंत्र है कि जहाँ ज्ञान है वहाँ मान नहीं है और जहाँ मान है वहाँ ज्ञान नहीं है।**

मान अज्ञानमय भाव है। ज्ञानियों को भी तो अप्रत्याख्यान

मान होता है? उनकी बात बाद में करना। बीमारी के साथ की कमजोरी अलग बात है और बीमारी मिटने के बाद की कमजोरी अलग बात है। वह भी मिट जाएगी। **ज्ञानियों को मान के समय भी भेदज्ञान वर्तता है - उस मानादि के काल में भी उन्हें निंदा, गर्हा वर्त रही है। उनका मान अल्प काल में दूर हो जाएगा। मान में उनको किंचित् भी उपादेयता नहीं है, इसलिये ज्ञानियों को मान है ही नहीं - ऐसा भी कहा जाता है।**

रूप का मान! शरीर के रूप का मद अज्ञानियों को होता है। सबसे सुन्दर रूप तो तीर्थंकर का होता है, तब सबसे अधिक मान उन्हें होना चाहिये लेकिन उन्हें शरीर के रूप का मद नहीं होता। **निज रूप को नहीं देखने से रूप का मद होता है।** इतना ही नहीं समझ लेना कि शरीर सुंदर हो तभी मान होता है कि मैं बहुत सुन्दर हूँ! यदि कोई शरीर की कुरूप शक्ल देखकर यह सोचता है कि मैं बहुत कुरूप हूँ तो उसे भी रूप का मद ही है। ये तो बहुत सुन्दर है, मेरी शक्ल अच्छी नहीं है। अरे! शक्ल तो जैसी है वैसी है, लेकिन अक्ल अच्छी नहीं है। अक्ल खराब है तेरी! तुझे भेदज्ञान नहीं है। अच्छी और बुरी कहने लगा, पहले अपना और पराया तो पहिचान! जिस लड़की के साथ सगाई की चर्चा ही नहीं है, उसको कहे कि यह लड़की बहुत अच्छी है। तुझे मतलब क्या है? जो रूप अपना है ही नहीं, वह अच्छा बुरा मानने से कोई मतलब नहीं है। यह ज्ञान की नहीं, मान की बातें हैं।

अपने चिद्रूप का आश्रय हुये बिना, आश्रय का अर्थ उसे पहिचाने बिना, शरीर के रूप से अपने को छोटा या बड़ा मानना

मान है। चिद्रूप को पहिचाने तो जिसे स्वर्ग के देव भी देखने आते हैं, ऐसा सुंदर रूप हो या शरीर में रोगादि हो, कोढ़ादि के कारण शरीर का रूप बहुत घिनावना भी हो जाए तब भी उसे न अभिमान होगा, न हीनता होगी।

जब वादिराज मुनिराज के समक्ष एक सेठ ने आकर कहा – महाराज! अब तो सहा नहीं जाता। क्या नहीं सहा जाता? यदि नहीं सहा जाता तो भेदज्ञान करो। अरे! जो कर्म का उदय और कर्मजनित अवस्था है। वह सही क्यों नहीं जाती? सहने का तरीका नहीं आता। कई प्रसंगों पर अपन कहते हैं कि आजकल इतनी गड़बड़ हो गई है कि देखा नहीं जाता। देखा क्यों नहीं जाता, उसका कारण यह है कि देखना नहीं आता। भगवान के ज्ञान में झलक रहा है कि नहीं? आप कहते हैं कि देखा नहीं जाता, भगवान तो देख रहे हैं, आपसे क्यों नहीं देखा जाता। आप अपने हिसाब से परिणमाना चाहते हैं। आप अपना स्वरूप नहीं देखते, इसलिये आपकी राग वृत्ति नहीं टूटती, मोह नहीं टूटता, इसलिये नहीं देखा जाता! यदि आप अपने को देखते हुये देखें तो सारा का सारा विश्व जैसा का तैसा दिखता रहे, आपको कोई तकलीफ नहीं होगी।

वादिराज मुनिराज से सेठ ने कहा अब तो दिगम्बरत्व का अपमान सहन नहीं होता। सच पूछें तो जो बात अपन को अच्छी नहीं लगती तब बहुत-सी बातें इस भाषा में कहते हैं कि हम तो सब समझते हैं, पर लोग तो ऐसा कह रहे हैं कि जैन साधुओं में इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि अपने शरीर का रोग मिटा सकें तो दुनिया का क्या भला करेंगे? सुनने में बुरा लगता है महाराज!

वादिराज मुनिवर बोले – अरे भाई! इसमें बुरा लगने की क्या बात है? मंदिर के विकृत हो जाने से देव तो विकृत नहीं हो जाते। इस देह के विकृत होने से आत्मा का क्या सम्बंध? आश्चर्य है इस देह की विकृति तुमसे नहीं देखी जाती। देह की कुरूपता और दुर्गंध तुमसे देखी नहीं जाती और परिणामों की ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं है।

मुनिवर को दीनता क्यों नहीं आई और जब दूसरे दिन शरीर कंचनवर्ण का हो गया तब उन्हें अभिमान क्यों नहीं आया? ये शब्द स्तोत्र में भी लिखे हैं। हे भगवान! जब आप स्वर्ग से आने वाले थे तब सारी नगरी स्वर्णमयी हो गई, तो जब आप ध्यान रूपी द्वार से मेरे हृदय में विराजेंगे तब यह देह स्वर्णमयी हो जाए तो इसमें क्या आश्चर्य है?

ध्यान रखना कि ज्ञानी की भक्ति में दीनता के लिये कोई अवकाश नहीं होता। जहाँ दीनता होती है वहाँ भक्ति नहीं होती। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'हे भगवान! अब लाज आपके हाथ में है। कल सुबह लोग आएँगे देखने हमें, अपनी तो कुछ नहीं है, धर्म की बड़ी बदनामी होगी। महाराज! अब देखो सम्हालो!' एकीभाव स्तोत्र में कैसी सुन्दर लाइनें लिखी हैं –

दिवि तै आवन हार भये भवि-भाग उदयबल।
पहले ही सुर आय कनकमय कीय महीतल।।
मनगृह-ध्यान-दुवार आय निवसो जगनामी।
जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी।।

भव्यों के भाग्य से जब आप स्वर्ग से आनेवाले थे, तीर्थंकर भगवान का गर्भावतरण होने वाला था तब रत्न बरसे, नगरी

स्वर्णमयी हो गई। जगत के जीवों को आश्चर्य होता है कि यह क्या हो गया।

लोगों को चमत्कार के नाम पर बाहर की घटना दिखाई देती है। हमें तो भक्ति का चमत्कार, ज्ञान का चमत्कार दिखता है। ऐसे संकट के काल में भी उन्हें किंचित् भी आकुलता नहीं हुई – यह है तत्त्वज्ञान का चमत्कार! ऐसा स्वर्णमयी रूप हो जाने पर भी उन मुनीश्वर को, उन योगीश्वर को कोई अभिमान या विस्मय नहीं हुआ – यह है तत्त्वज्ञान का चमत्कार।

सेठ सुदर्शन की सूली का सिंहासन बन गया, ये चमत्कार की बातें नहीं हैं – ये तो पुण्य-पाप के उदय से होने वाले परिणमन हैं, इनमें ज्यादा दम नहीं है। आप कहीं माला फेर रहे हों और कोई आपको उठाकर कहीं पटक दे और आपके साथ कोई खोटी चेष्टायें करे और फिर आपको बदनाम करे और राजा भी दण्ड दे दे, कोई सुने नहीं। आपके मन में क्या आयेगा? ये क्या हुआ? कोई क्या कहेगा? देखो यह राजा कैसा अन्यायी, स्त्री के कहने में आकर कुछ नहीं सोचा। कितने विकल्प खड़े होंगे? लेकिन सुदर्शन सेठ जैसे वहाँ, वैसे सूली पर और वैसे ही सिंहासन पर। वहाँ कोई इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं हुई, कर्म जनित अवस्थाओं को न्यारा जानते रहे और सबसे अपने को न्यारा अनुभवते रहे। वे इन सब घटनाओं से भिन्न अपने को चैतन्यरूप अनुभवते रहे और उन सब घटनाओं को न्यारा जानते रहे – यह है तत्त्वज्ञान का चमत्कार! इसका नाम है संयमभाव।

भगवान का शासन बहुत गंभीर है भाई! अंतर दृष्टि के बिना जिनशासन समझ में नहीं आता, प्रकट होना तो बहुत बड़ी बात

है। रूप मद के समान अन्य मदों के बारे में भी यही समझ लेना चाहिये। अपना रूप देखो! ऐसे ही धन का मद, धन के कारण से नहीं होता। बहुतों के पास धन बहुत है, लेकिन अभिमान नहीं है, बहुतों के पास धन नहीं है, लेकिन अभिमान इतना है कि क्या पूछना? बड़े पद पर बड़ा अधिकारी, फिर भी मद नहीं है और किसी के पास है कुछ भी नहीं, जरा से बाबू बन गये, सिपाही बन गये 'टेढ़ो टेढ़ो जाए' और बड़ा अधिकारी, साहब! 'हाँ बोलो क्या काम है? देखा आपने? अधिकारी को मद कम और कर्मचारी को मद ज्यादा! कर्मचारी सुने नहीं और अधिकारी ने दो मिनिट में समझ ली आपकी बात! अच्छा, यह बात है! ठीक है! आपका कार्यक्रम अच्छा है, हो जायेगा।' वे बीच वाले न जाने कितना घुमा रहे थे।

मतलब यह है कि प्रभुता का मद अपनी आत्मप्रभुता को नहीं जानने से होता है, ज्ञान का मद आत्मज्ञान नहीं होने से होता है। रूप का मद अपने रूप को नहीं देखने से होता है। तप का मद अपने अन्तरंग तप की पहिचान नहीं होने से होता है। कथन उधर से किया है। 'अष्टौ आश्रित्य' इसका मतलब यह है कि आत्मा के अनाश्रय से मद होते हैं और आत्मा के अनाश्रय से होने वाले मद, मान और उसमें होने वाली कठोरता और दुःख आत्मा के आश्रय से सहज ही मिटते हैं। पराश्रय से मान होते हैं, स्वाश्रय से मार्दव होता है। हम सभी लोग स्वतत्त्व को समझकर मार्दव धर्म को प्रगट करने का पुरुषार्थ करें, यही भावना है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

***

उत्तम आर्जव धर्म

धर्म का श्रेष्ठ लक्षण आर्जव है। आर्जव का अर्थ सरलता है। मन-वचन-काय की कुटिलता का अभाव आर्जव है। आर्जव धर्म पाप का खण्डन करने वाला है और सुख उत्पन्न करने वाला है, अतः कुटिलता छोड़कर कर्म का क्षय करने वाले आर्जव धर्म को धारण करो!

धर्म केवल पूजा करने के लिये ही नहीं है, प्रकट करने योग्य उपादेय है। इसकी पूजा भी करना, भावना भी करना और प्रकट करने का पुरुषार्थ भी करना।

धर्म का श्रेष्ठ लक्षण आर्जव है। आर्जव का अर्थ है सरलता। लौकिक में भी आपने सुना होगा - सहजता, सरलता, कोमलता ये मानवीय गुण हैं। मानव समाज में स्थूलरूप से देखा जाए तो ये मानवीय गुण हैं। आदमी कोई पद, वैभव, प्रतिष्ठा से महान नहीं होता। यह बात लौकिक क्षेत्र की है और जब यही गुण कुछ अधिक हो जाएँ तो यही दैवीय गुण ही आत्मिक गुण हो जाते हैं। सचमुच मानव हो या देव हो, पहले तो वह आत्मा है।

मनुष्य हो, देव हो, तिर्यञ्च हो या नारकी हो, युवा हो, वृद्ध हो, धनी हो, निर्धन हो, कोई भी हो, हैं तो सब आत्मा! यहाँ आत्मिक गुणों की बात है। यहाँ आत्मिक सरलता की बात चल रही है, लौकिक सरलता की बात नहीं है। लौकिक सरलता, कोमलता, सहजता, लोक में प्रतिष्ठा का कारण भले बने, लेकिन आत्मिक सरलता, सहजता, कोमलता आत्मिक सुख का कारण है।

आर्जव का अर्थ सरलता है और सरलता का अर्थ क्या होगा? लोगों ने तो सरलता किस-किसको मान लिया है? जो अपने अनुसार वर्तन करे, वह हमें सरल लगता है, लेकिन सिद्धान्त से देखना चाहिये कि सरलता क्या है? सरल रेखा और वक्र रेखा पढ़ी होगी। सरल रेखा किसको कहते हैं? गणित की परिभाषा हम आपसे पूछ रहे हैं, धर्म की परिभाषा हम आपको बतायेंगे। दो बिन्दु की कम से कम दूरी का नाम सरल रेखा है। मान लो एक सेन्टीमीटर की दूरी पर दो बिन्दु हैं, तो एक सरल रेखा एक सेन्टीमीटर की होगी, वक्र रेखा उससे हजार किलो मीटर की भी हो सकती है, लाख और करोड़ किलोमीटर की भी हो सकती है। आप यहाँ से घुमाना शुरू करो और चले जाओ पूरे देश में और लाकर के रख दो, जरूरी नहीं मिल जाये - लेकिन सरल रेखा उतनी ही होगी, कहीं से नापो, कैसे भी नापो, लेकिन सरल रेखा दो बिन्दुओं के बीच कम से कम की दूरी ही होगी। यह गणित की परिभाषा हो गई। अब धार्मिक परिभाषा जानते हैं। ये दो बिन्दु कौन से हैं? वे दो बिन्दु हैं स्वभाव और परिणाम। अब स्वभाव और परिणाम के बीच कम से कम दूरी। कम से कम दूरी का मतलब क्या होगा? अदूरी! क्योंकि ये दो बिन्दु अलग-अलग नहीं हैं। यह सैद्धान्तिक बात है।

दो बिन्दु जैसे दूर-दूर हैं, ऐसे द्रव्य और पर्याय नहीं हैं। जैसे आप और हम इतनी दूर बैठे हैं, लेकिन आप और आप में दूरी का प्रश्न ही नहीं है। अपना घर अपने से कितनी दूर है? कम से कम दूरी का क्या अर्थ होगा? अब करो दूरी कम से कम!

हम श्री गुरुओं से स्वभाव के बारे में सुनते हैं "अरे भाई! स्वभाव को तुमने पहिचाना ही नहीं है। स्वभाव की पहिचान बिना ही आज तक दुःखी होते रहे हैं। दुःखों से छूटने का एक मात्र उपाय अपने स्वभाव की पहिचान होना है, अपने स्वभाव का ज्ञान होना है। आत्मस्वभाव का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान यही सुख का कारण है। आत्म स्वभाव की विराधना से दुःखी हुआ और कोई दुःख का कारण ही नहीं है।" पढ़कर के या सुनकर हमें यह लगा कि बात तो यही सच है। नरक में कितने दुःख के कारण हैं। वहाँ तो भूमि ही ऐसी है। **'तहाँ भूमि परसत दुःख इसो'। पानी कैसा है! 'कृमि कुल कलित....'।** नरक में वृक्ष के पत्ते कैसे हैं, दूसरे नारकी कैसे हैं? ये सब अपने स्वभाव को भूलकर दुःखी होते हैं तो ये सब निमित्त होते हैं। ये सब दुःख के कारण नहीं हैं। नरक में भी दुःख का कारण, अपने आत्मा को नहीं जानना है।

'बाहर नारकि कृत दुख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।'

जो जीव नरक के क्षेत्र में हैं, नारकी शरीर में हैं, वे भी जब देह से भिन्न आत्मा को अनुभवते हैं तब कैसा आनन्द का वेदन होता है? जैसा सिद्धालय में विराजमान सिद्ध भगवन्तों को होता है। सिद्धालय में विराजमान सिद्ध भगवन्तों के आनन्द के वेदन में और नारकी की पर्याय में रहने वाले नारकी की पर्याय से भिन्न अपने को आत्मा देखनेवाले जीव के वेदन में कोई अन्तर नहीं है।

तीनलोक तिहुँकाल माँहि नहिं दर्शन सो सुखकारी। इसकी नास्ति करो - **'तीनलोक तिहुँकाल माँहि नहिं मिथ्यात्व सो**

दुःखकारी।' तीनलोक तीनकाल में मिथ्यात्व के समान कोई दुःख का कारण नहीं है, शत्रु नहीं है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है - इन जीवों का अर्थात् शरीरधारी प्राणियों का मिथ्यात्व के समान कोई बैरी नहीं है और सम्यक्त्व के समान मित्र नहीं है। यदि इसको सुख-दुःख की भाषा में कहें तो मिथ्यात्व के समान कोई दुःख का कारण नहीं है और सम्यक्त्व के समान कोई सुख का कारण नहीं है।

जब जीव ने यह बात सुनी और विचार किया तो कहने लगा कि बात तो सच्ची है। कुछ सार नहीं सब बेकार है। कहाँ इस कमाई-धमाई में लगे हैं, कण-कण करके जोड़ता है और एक क्षण में छोड़ता है, रखने की कोई व्यवस्था नहीं है। एक-एक संयोग आपने कैसे-कैसे जुटाये हैं और एक क्षण में बस.. **'बिखर जाएगा इक दिन तेरा सारा ताना-बाना रे।'** अब हमें आत्म स्वरूप ही समझने योग्य है और कुछ करने लायक है ही नहीं - ऐसे भाव हों तो समझो कि हमारे परिणामों में सरलता आई। हमारी चित्त भूमि सरल हो गई, सरलता का यहीं से प्रारंभ हुआ। आत्मस्वभाव ही समझने योग्य है, आत्महित ही करने योग्य है, जीवन में और कुछ करने योग्य नहीं। ईमानदारी से यह लक्ष्य बनाये कि आत्मस्वरूप ही समझने योग्य है, तब कुछ सरलता आई, ऐसा समझो।

जब परिणामों में सरलता आई तब आत्मस्वरूप समझने के लिये श्रीगुरुओं के समीप पहुँचा और अति विनम्र होकर पूछा - प्रभो! आत्मा का हित क्या है? हमें उस आत्मा का स्वरूप समझाओ, जिसे जाने बिना हमें दुःख ही दुःख भोगने पड़े। जिसे

जानने से जीव सुखी होता है उस परमात्मा का प्रकाश करो! जब ऐसा परिणाम हुआ तब सरलता वृद्धिंगत हुई।

ध्यान रखना! अभी स्थूलपने थोड़ा सा लक्ष्य बदला, थोड़े से विचार बदले और जब उन्होंने आत्मस्वरूप को दर्शाया कि '**नहीं अप्रमत्त, प्रमत्त नहीं जो एक ज्ञायक भाव है।**' तू संसारी या मुक्त नहीं है, तू तो चैतन्य स्वरूप है। परमात्मप्रकाश की गाथा 68 में कहा – '**न उप्पजई न मरई**' जो न उत्पन्न होता है, न मरता है। कौन जन्मता-मरता है? जो अपने को भूलता है, वह जन्मता और मरता है।

जो अपने को आत्मा समझता है, आराधता है, वह अमर होता है, वह जन्म-मरण से रहित होता है, आत्मा का जन्म-मरण होता ही नहीं है। आपके माता-पिता कौन हैं? आप शरीर की ओर से नाम बता देते हैं। हमने कहा – ये तो शरीर के माता-पिता हैं, अपने माता-पिता बताओ? आपने तुरन्त कहा – अरहन्त हमारे पिता और जिनवाणी हमारी माता। हमने कहा – अपेक्षा बताओ, तो कहा कि निश्चय से ये पिता और माता हैं और व्यवहार से वे शरीर के माता-पिता हैं।

अरे! जिसका जन्म होता है उसके ही तो माता-पिता होते हैं। जब आत्मा का जन्म ही नहीं होता तो माता-पिता होने का प्रश्न ही नहीं है। अरे! व्यवहार से जिनवाणी हमारी माता है और अरहन्त हमारे पिता हैं, क्योंकि इन्होंने हमें आत्मा बताया है इनके वचनों से ही हमें आत्मा समझने की बुद्धि कुछ जागी है, उपयोग अन्तर्मुख हुआ है तो आत्मा समझ में आया है। यह बात हमें लगी कि हम आत्मा हैं। जन्म का अर्थ है प्रगट होना। प्राणों

का संयोग होना सो जन्म और प्राणों का वियोग होना सो मरण – यह बात यहाँ नहीं लेना। आत्मा का प्रकट होना माने मैं आत्मा हूँ – यह समझ में आना इसका नाम जन्म है, तब व्यवहार से अरहन्त हमारे पिता और जिनवाणी हमारी माता कहे जाते हैं। शरीर के माता-पिता को लोक व्यवहार से माता-पिता कहते हैं। यह लोक व्यवहार है और वह मोक्षमार्ग का व्यवहार है।

हमें तत्त्व का प्रयोग करना चाहिये। औषधि की मात्र जानकारी और प्रशंसा से रोग नहीं मिटते, औषधि के सम्यक् प्रयोग से रोग मिटते हैं। जिनवचनों का सम्यक् प्रयोग करना सीखें। परिवार का मोह तब तक नहीं टूटेगा जब तक आप अपने परिवार को नहीं पहिचानेंगे। शरीर के रूप का मद चिद्रूप को नहीं पहिचानने से होता है। चिद्रूप को देखने से रूप का मद टूटता है। इस रूप का जब मद हो तब आप चिद्रूप की याद करो तो इससे आपको मोह नहीं होगा। जब मोह ही नहीं होगा तो मानादिक भी नहीं होंगे। हम बड़ी सरलता से, सहजता से जिन वचनों को सुनने लगें, श्रीगुरु की शिक्षा को स्वीकार करने लगें, तब वह व्यावहारिक सरलता समझना? अपने दोषों को सहजता से स्वीकार कर लेना सरलता है।

तिर्यञ्चों को क्षयोपशम ज्ञान कितना कम है, बाहर के साधन कितने कम हैं। पद्मपुराण पढ़ें तो आश्चर्य होता है कि इन तिर्यञ्चों को इतनी जल्दी सम्यग्दर्शन कैसे हो जाता है? वे नय प्रमाण नहीं जानते। वैद्य के पास जो रोगी आता है वह रोग, औषधि आदि के सम्बन्ध में कुछ जानता तो नहीं है लेकिन वह

बड़ी सरलता से इलाज करा लेता है। वैद्य के पास आया, वैद्य ने औषधि दी, प्रयोग संबंधी प्रयोजनभूत बातें पूछी, कैसे लेना है आदि, औषधि सेवन किया और निरोगी हो गया, लेकिन जिन्हें आधी-अधूरी जानकारी होती है, एक दो किताबें पढ़ ली, कुछ नुक्से पढ़ लिये और वैद्य के पास आया। बड़ा कठिन होता है ऐसे व्यक्ति का इलाज करना, क्योंकि वह भी अपना अधूरा ज्ञान बताने लगेगा - 'ये गर्मी तो नहीं करेगी। इसकी जगह ये लेते तो' अरे डॉक्टर हम हैं या तुम हो! ऐसे ही हमने कुछ बातें पढ़ लीं, सुन लीं तो अधूरे ज्ञान से भव रोग का इलाज करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब आत्मा का स्वरूप बतायें तो कहता है कि ये तो निश्चय की बातें हैं। व्यवहार भी तो होना चाहिये। उसे करना या समझना नहीं है।

जैसे बनियों की मीटिंग रखी हो, बुलाओ तो पहले तो आना नहीं है, यदि आते हैं तो चुपचाप बैठ जाते हैं। कोई बात पूछे तो कहते हैं - कौन मना करता है, होने दो। पूछें कि आपकी क्या राय है? तो कह देते हैं - जैसा सब समझें। उससे कहें कि आपसे पूछ रहे हैं तो कह देता है कि क्या फायदा कोई मानता नहीं है। अरे! मनवाने के अहंकार से बोलते क्यों हो। सहज भाव से अपनी राय कहो, सब विचार करेंगे, मानें तो कोई बात नहीं है, नहीं मानें तो कोई बात नहीं है। यह सज्जनता है।

तिर्यञ्च से कहा तू जीवराज है, तू चैतन्य स्वरूप है, तेरा सुख तेरे में है और वह सिंह अंतर्मुख होकर स्वानुभव करने लगा। वह हाथी अन्तर्मुख होकर स्वानुभव करने लगा। वह तिर्यञ्च प्रसन्न हो गया, लोग देखते ही रहे। मुनिराज ने सीता से

कहा - यह पक्षी श्रावक हो गया। हमें वर्षों पढ़ते या सुनते हो गये और कुछ नहीं हुआ, जहाँ के तहाँ रहे क्योंकि हमारी दृष्टि संयोगों पर, पर्यायों पर ही रही। हम अपनी बुद्धि लगाते रहे, यह निश्चय की बात है, यह व्यवहार की बात है।

अपेक्षाएँ अनेक होती हैं, लेकिन तत्त्व निरपेक्ष होता है। **अपेक्षाएँ वस्तुस्वरूप का निर्णय करने में सहायक हैं, वस्तु तो पक्षातिक्रान्त है।** मिश्री मीठी है तो वहाँ भी अपेक्षा लगा सकते हैं - मिश्री मीठी है रस की अपेक्षा से। रस गुण की खट्टी, मीठी, खारी, चरपरी आदि पर्यायें होती हैं। कोई कहे मिश्री मीठी क्यों होती है? तो मीठी होती है बस! इसमें स्वाद अपेक्षा क्यों लगाते हो? मिश्री मीठी होती है। जो उसका आस्वादन करने लगा वह स्वाद से भर गया। कोई यदि कहे कि मिश्री रस की अपेक्षा मीठी है, गन्ध की अपेक्षा सुगन्धमय है, स्पर्श की अपेक्षा वह ठंडी है, कठोर है और वर्ण की अपेक्षा सफेद है, एक ही बात थोड़े ही है। वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है, लेकिन यदि स्वाद नहीं लिया तो मुँह फीका रहा। किसी ने सुना कि मिश्री बहुत मीठी होती है और उसने कहा लाओ तो जरा, उसने खाई तो मुँह मिठास से भर गया। अल्पज्ञानी तिर्यञ्च से कहा कि - तू भगवान आत्मा है, अपने को क्या मान रहा है? जिसे तू अपना मान रहा है वह तू है ही नहीं और जो तू है उसे तूने पहिचाना नहीं। हम तुझे बता रहे हैं कि तू भगवान आत्मा है। उसने तुरन्त देखा और प्रमाण कर लिया, बस ज्ञानी हो गया। यह है सरलता का चिन्ह!

सरल परिणामी शिष्यों को शिक्षा देने में गुरुजनों को उत्साह

होता है, वक्र परिणामियों को या कुतर्कवादियों को समझाना बड़ा कठिन होता है। आगम में बड़ा सुंदर दृष्टान्त दिया है, जैसे अड़ियल घोड़ा हो, उसे मजबूरी में ले जाना पड़ता है, क्या करें? उसे चलाने में उत्साह नहीं आता। अच्छी गाड़ी हो तो चलाने वाले को उत्साह आता है। खटारा गाड़ी ले लो, तो उसका ड्राइवर वहीं छोड़ देता है। विनयवान शिष्य हो, सरल स्वभावी हो, जिज्ञासु हो तो उसे शिक्षा देने में श्रीगुरुओं को उत्साह होता है।

गुरु का शिष्य के ऊपर उपकार होता है यह तो आप जानते ही हैं। उपकार का अर्थ है – उप यानि समीप, कार यानि करें। **जो अनादिकाल से भटकी अपनी परिणति को अपने समीप करें, उसको उपकारी कहते हैं। अनादिकाल से भूले हुये अपने शुद्धात्म स्वरूप को दर्शाये, अपना सुख अपने में दिखाये – यह गुरुओं का उपकार है,** यह तो आप समझ लेते हैं लेकिन शिष्य का भी गुरु के प्रति कोई उपकार होता है? अरे! योग्य शिष्य के निमित्त से सूक्ष्म तत्त्वों के रहस्य का उद्घाटन होता है। यदि योग्य शिष्य नहीं हो तो वे क्या कहेंगे?

प्रभाकर भट्ट जैसे शिष्य के निमित्त से परमात्मप्रकाश शास्त्र की रचना हुई। गाँव की दुकानों में क्वालिटी का माल इसलिये नहीं मिलता क्योंकि उसे खरीदने वाले ग्राहक ही नहीं होते। वहाँ तो सब सस्ता माँगते हैं। वैसे ही भीड़ के सुनने वाले हों तो क्या निकलेगा?

योग्य शिष्य के निमित्त से सूक्ष्म तत्त्वों का उद्घाटन

होता है; लोक में धर्म की परम्परा योग्य शिष्य के निमित्त से चलती है; योग्य शिष्य समाधि में सहायक होता है - ये सब शिष्य के उपकार हैं।

पिता पुत्र को जन्म देता है और पुत्र पिता को प्रसिद्ध करता है। जो पुत्र पिता को बदनाम करे, वह तो कुपुत्र है, उसकी तो क्या बात करें? ऐसे ही रागादि भाव तो जीव को बदनाम करते हैं, दुःखी करते हैं, फिर भी हम उन्हें अपना मानते हैं। सुपुत्र को अपना कहने में गौरव होता है और कुपुत्र को अपना कहने में शर्म आती है। ऐसे ही रागादि भावों को अपना कहने में शर्म आना चाहिये।

इससे बड़ा मोह और क्या होगा? जो कुपुत्र को अपना कहता है। अगर तुम्हें अपनी प्रॉपर्टी की सुरक्षा चाहिये तो उसको निकाल देना चाहिये। इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। अखबार में निकाल देते हैं कि नहीं? ऐसे ही यदि आपको अपनी प्रॉपर्टी की यानि रत्नत्रय की रक्षा करनी है तो इन रागादि भावों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है - यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पुत्र का पिता के प्रति यह उपकार है या नहीं, पुत्र पिता को प्रसिद्ध करता है, पिता को निश्चिन्त करता है, पिता की संतति को चलाता है। हमने ये लौकिक बातें कही हैं परमार्थ का स्वरूप आपको समझना चाहिये। उपकार का अर्थ है, भूली हुई आत्मा की परिणति का आत्मा के समीप होना!

पण्डित टोडरमलजी ने आठवें अधिकार में क्या कहा है? संसारी जीवों को दुःख से छूटकर मोक्षमार्ग में लगाने का उपदेश देना यह उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधरादिक भी ऐसा ही

उपकार करते हैं। अपनी भाषा में कहें तो संसारी जीवों को अनादिकाल से भूला हुआ सारभूत शुद्धात्मा दर्शाना ही उत्तम उपकार है, तीर्थंकरों ने, गणधरों ने भी ऐसा ही उपकार किया है और इस उपकार का प्रत्युपकार नहीं हो सकता।

अनादिकाल से चली आई अपनी भूल को सहज भाव से स्वीकार कर लेना और श्रीगुरुओं के द्वारा दर्शाये गये शुद्धात्मा को सहज भाव से स्वीकार कर लेना - यह व्यावहारिक सरलता है। यह भूमिका है और तत्त्व निर्णय में ज्यों-ज्यों उपयोग लगाते जाते हैं, दूरी कम होती चली जाती है, आत्म स्वभाव के समीप आ जाते हैं, सरलता बढ़ती चली जाती है और जब हम उपयोग में उपयोग स्वरूप आत्मा को अनुभवते हैं तो सरलता प्रगट हो जाती है, ये है सम्यक् सरलता, इसका नाम है उत्तम आर्जव धर्म। **यह पूर्ण आर्जव धर्म नहीं हैं, यह तो आर्जव धर्म का अंकुर है। आत्मस्वरूप की प्रतीति होना आर्जव धर्म का मूल है। आत्म स्वभाव की भावना भाते-भाते आत्मस्वरूप में लीन हो गये यह आर्जव धर्म है, तब चारित्र की परिणति आ गई।** आत्मस्वरूप की भावना भाते-भाते, यानि भेदज्ञान करते-करते निज स्वरूप में लीन हो गये तब आर्जव धर्म प्रगट हो गया। परिणाम एवं स्वभाव के बीच की दूरी मिट गई।

साहब सेवक भेद मिटाय, द्यानत एकमेक हो जाय।
मंगल आरति आतम राम, तन मन्दिर मन उत्तम ठान।।

आत्मा के स्वरूप को सुनने का अवसर भी मिले और बहाने बनाते रहें, क्या करें गृहस्थी भी देखनी है, अब समाज भी देखना है कि नहीं! अब यह शरीर भी तो देखना है। अरे!

सबको देखना है, अपने को नहीं देखना है? यदि प्राण भी छूटने का अवसर आ जाए तो भी यह मोही प्राणी, हमारे बाद इन बच्चों का क्या होगा, यह धन्धा संभालना, इनका क्या होगा? यह विचार कर रोता है। यह नहीं सोचता कि इस संक्लेशता में देह छूट गई तो तेरा क्या होगा? अरे! विचार करो। ऐसे अवसर में भी यदि अपने आत्मस्वरूप का अनुभवन नहीं किया तो क्या होगा तेरा। कहाँ ये संयोग होंगे, कहाँ तू होगा, कहाँ ये वैभव होगा? कहाँ से यह सुन्दर शरीर होगा? जिसे देखने के लिए बार-बार दर्पण देखता है। कहाँ ये विषय-भोग होंगे? यदि भोगों की लालसा से नरक में चला गया तो तेरा क्या होगा? पूजा में भी कहा है –

करिए सरल तिहुँ जोग अपने, देख निर्मल आरसी,
मुख करै जैसा लखे तैसा, कपट-प्रीति अँगार-सी।

कपट प्रीति मत करो, ऊपर से प्रीति दिखाये, अन्तरंग में कपट रखे तो कपट प्रीति अंगार-सी है। अंगारा स्वयं जलता है एवं दूसरों को जलाता है। धर्म, धर्मात्मा एवं धर्मायतनों के प्रति प्रीति कैसी होनी चाहिये? दो बातें कही थीं – अंतरंग प्रीति और सातिशय प्रीति। आँखों देखी प्रीति नहीं। '**तत्प्रति प्रीति चित्तेन**' यह अन्तरंग प्रीति हो गई। सातिशय प्रीति का अर्थ है जैसी प्रीति तुझे मोह की दशा में कुटुम्ब आदि, शरीरादि के प्रति है उससे अनंतगुनी प्रीति धर्म, धर्मायतनों के प्रति होना सातिशय प्रीति है और वह वाञ्छा रहित है। अंतरंग प्रीति माने अंतर में विराजना, कभी ओझल नहीं होना। जिनके प्रति अंतरंग प्रीति होती है, उसकी कभी उपेक्षा नहीं होती, उसका कभी विस्मरण

नहीं होता। भूल गये या ध्यान नहीं रहा, तो अंतरंग प्रीति नहीं है। क्या कोई स्त्री कभी अपने पति को भूलती है?

जो परिणति अपने स्वभाव को भूली है, वह प्रीति नहीं है वह तो अप्रीति है। अरे! एक बार अपने स्वभाव को जाना, अब अनन्तकाल नहीं भूलेंगे। शब्द भूल गये लेकिन भाव नहीं भूलते। अंतरंग प्रीति और सातिशय प्रीति पूर्वक तत्त्व का श्रवण होना चाहिये। सरलता हमारे जीवन में आये, अपने दोष को सहज भाव से स्वीकार करें, महंतता से नहीं, अंतरंग भाव से स्वीकार करें। आप तो महंत रहना चाहता है, दोष कर्मादि को देता है। कर्म का उदय आता है तो उसमें मत जुड़ो, इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मत करो। अपने स्वभाव को मत भूलो। किसी ने भुलाया नहीं है, स्वयं भूला है। जब श्रीगुरु कहें कि सुन भाई! अनादिकाल से भूल चली आ रही है लेकिन भूल एक समय की पर्याय में है, भूल तेरे स्वरूप में नहीं है। **स्वरूप को देखे तो भूल मिट जाएगी। एक-एक दोष को नहीं टालना पड़ेगा। सर्व दोषों का अभाव स्वयं हो जाएगा। यह बात सहजता से स्वीकार करके अन्तर्मुखी पुरुषार्थ करें, तब आर्जव धर्म हमारे जीवन में प्रगट होगा। विचारना...।**

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम शौच धर्म

पं. सदासुखदासजी रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका में कहते हैं कि शौच का अर्थ पवित्रता, शुचिता और उज्ज्वलता है। शब्द उज्ज्वलता है लेकिन किसकी उज्ज्वलता? पण्डितजी कहते हैं कि बहिरात्मा तो देह को ही आत्मा मानता है, अतः देह की उज्ज्वलता को स्नानादिक करने को ही शौच धर्म मान लेता है, जबकि देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। देह को स्नानादिक कराने से आत्मा की उज्ज्वलता कैसे हो गई, यह बात विचारने की है।

देह तो अपवित्र, मल, मूत्र से भरा होने के कारण जल से धोने से शुचिता को प्राप्त नहीं होती। जिसका मूल उपादान ही मल से उत्पन्न, मलमय, मल को उत्पन्न कराने वाला है वह जलादि से शुद्ध कैसे होगा? जैसे मल से बना और मल से भरा हुआ घड़ा जल से धोने से शुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार शरीर भी जल से धोने से उज्ज्वल नहीं होता। शरीर की शुद्धता से, स्नानादिक से, शरीर की शुद्धता मानना भी मिथ्या है। शरीर के स्नानादिक से अपने को शुद्ध मानना तो मिथ्या है ही, शरीर के स्नानादिक से शरीर को भी शुद्ध मानना मिथ्या है। फिर शौच धर्म कैसे होगा?

शौच धर्म तो आत्मा को उज्ज्वल करने से होता है। करने से होता है लेकिन करने का अर्थ क्या समझना चाहिये? 'ज्ञानादन्यत्करोति किं!' **शौचधर्म तो आत्मा को उज्ज्वल जानने, मानने से और अनुभवन करने से होता है। आत्मा तो स्वभाव से ही पवित्र है।**

शुद्धभाव, पवित्रभाव दो प्रकार के हैं। सात तत्त्वों में शुद्ध तत्त्व कौन-कौन से हैं? एक जीव तत्त्व, दूसरे संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व। **संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व तो प्रगट शुद्धता है। ये तो अशुद्धता के व्यय पूर्वक शुद्ध हुये हैं, नये भाव हैं लेकिन आत्मा तो ऐसा शुद्ध है जिसमें अशुद्धता हुई ही नहीं है।**

एक होता है गृहस्थ ब्रह्मचारी जिसने विवाह आदि किया पश्चात् ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया। दूसरा वह व्यक्ति जिसने विवाह आदि किया ही नहीं, ऐसा ब्रह्मचारी। लौकिक दृष्टि से आप उस बाल ब्रह्मचारी को अधिक महत्त्व देते हैं। पंच बालयति तीर्थंकर को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि वर्तमान की दृष्टि से उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन फिर भी आपको ऐसा लगता है कि इनने भोगादिक और राज्यादिक को स्वीकार ही नहीं किया।

आत्मा भी सचमुच ऐसा ही है, जिसने विकार को कभी छुआ ही नहीं, जिसमें विकार कभी हुआ ही नहीं। नियमसारजी के कलश की भाषा में कहें तो '**प्रागेव शुद्धं**' जो अनादि से ही शुद्ध है।

जैसे पंचकल्याणक में जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा होती है। नये जिन-बिम्बों को प्रतिष्ठित किया जाता है। एक अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं, जो पहले से ही प्रतिष्ठित हैं, उन्हें नई प्रतिष्ठा की जरूरत ही नहीं है। वैसे ही रागादि भावों से अनादि से ही कर्म-बन्धन था, उस कर्म-बन्धन का अभाव होने पर मुक्ति प्रकट हुई, लेकिन आत्मा तो ऐसा है जिसमें कर्म-बन्धन हुआ ही नहीं।

अभिषेक–पाठ में बोलते हैं '**तुम तो सहज पवित्र यही निश्चय भयो।**' ऐसी ही शैली में अपने अन्दर भी विचार करना चाहिये। आप तो भगवान से कह रहे हैं। तुम तो सहज पवित्र, भगवान आप से कह रहे हैं '**तुम भी सहज पवित्र यही निश्चय करो।**' आत्मा स्वभाव से ही शुद्ध है, स्वभाव से ही पवित्र है। किसी मलिनता को उसने छुआ ही नहीं है। मलिन भावों का नाम आत्मा नहीं, मलिन भावों का नाम आस्रव है। तात्त्विक दृष्टि से मलिन भावों को क्या कहते हैं? आत्मा तो नहीं कहते। हमने जबरन आत्मा मान लिया है उस आत्मा को जाने बिना उन मलिन भावों को आत्मा मान लिया है।

सचमुच आत्मा मलिन होता है या निर्मल होता है – ऐसा नहीं है। आत्मा को भूलने से, आत्मा की विराधना से मलिनता होती है, आत्मा की आराधना से उज्ज्वलता होती है। लिखा तो यह है कि शौच धर्म आत्मा को उज्ज्वल करने से होता है, **लेकिन जब करने की बात आये तब विचार करना कि आत्मा के संदर्भ में करने का अर्थ क्या होगा? जानना!** आँख क्या करती है? देखती है। करने का अर्थ यह है कि पहले अशुद्धता थी जब आत्मा को जाना, तो शुद्धता हुई। आचार्य कुन्दकुन्ददेव की मूल गाथा का हिन्दी में अनुवाद है –

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।।

– समयसार, गाथा–186

जो अपने को शुद्ध देखता है, वह शुद्ध दशा को प्राप्त होता है। जो अपने को अशुद्ध देखता है, वह अशुद्ध दशा को ही प्राप्त

होता है। मतलब यह है कि आत्मा को अशुद्ध देखने वाली दृष्टि ही अशुद्ध है, आत्मा को अशुद्ध जानने वाला ज्ञान ही अशुद्ध है। आत्मा को अशुद्ध जानकर-मानकर जो नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प होते हैं, क्रोधादिक भाव होते हैं वे भाव भी अशुद्ध हैं अर्थात् वह आचरण अशुद्ध है। वचन की अशुद्धता, काया की अशुद्धता - ये औपचारिक कथन हैं। सच पूछो तो परिणामों की अशुद्धता ही आत्मा की अशुद्धता कही जाती है। 'बन्ध-मोक्ष परिणामों से ही'।

जब परिणामों से ही बन्ध-मोक्ष है - ऐसा कहा जाये, तब हम 'से' की जगह 'में' भी बोल सकते हैं। षट्कारक में आयेगा बन्ध-मोक्ष परिणामों में ही। शुद्धता, अशुद्धता परिणामों में ही तो आती है। अनादिकाल से अशुद्धता कहाँ थी; अशुद्धता कौन-सी पर्याय में थी? कि जिस परिणाम ने, जिस दृष्टि ने, अपने को शुद्ध नहीं देखा वह परिणाम अशुद्ध हो गया। जैसे कुशील की परिभाषा क्या है? पति से विमुखता! शील की परिभाषा क्या है? पति में सन्तोष! ऐसे ही शुद्धता और अशुद्धता का परिणाम की ओर से कथन करें तो आत्म सन्मुख परिणाम शुद्ध हैं - ऐसा समझना चाहिए।

आत्मा के आश्रय से परिणाम शुद्ध होते हैं और आत्मा से विमुख परिणाम अशुद्ध होते हैं। शुद्ध, अशुद्ध में यह सारी बातें ले लेना चाहिये। जैसे दृष्टि की अशुद्धता-शुद्धता में क्या लेंगे मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन। आत्मा से विमुख होने पर मिथ्या-दर्शन और आत्मा के सन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन। ऐसे ही ज्ञान में आत्मा को नहीं जानने से अशुद्धता और जानने से शुद्धता

होती है। आत्मा से विमुख होकर ज्ञान की परिणति जितना भी कार्य कर रही है वह सब अशुद्ध ज्ञान है। जब आत्मा के सन्मुख हुआ तो शुद्ध ज्ञान है।

आत्म स्वरूप की भावना भाते हुये आचरण भी शुद्ध होता है। आत्म सन्मुख हुये बिना शुद्धता की कल्पना ही मिथ्या है। जिसप्रकार मिश्री के बिना, शक्कर के बिना मिष्ठान बनाने की कल्पना मिथ्या है। चाहे कैसे भी बनाओ मिश्री के बिना, शक्कर के बिना मिष्ठान्न कैसे बनेगा? ऐसे ही शाश्वत परमात्मा को पहिचाने बिना परमात्मा कैसे बनेगा? नित्य शुद्ध को पहिचाने बिना, नित्य शुद्ध की आराधना बिना, भावना बिना, शुद्धता कैसे आएगी? इसीप्रकार सुख और दुःख में शुद्धता और अशुद्धता। सुख शुद्ध दशा, दुःख अशुद्ध दशा।

सुखरूप देखे आत्म को, वह सुख को ही प्राप्त हो।
दुःखरूप देखे आत्म को, वह दुःख को ही प्राप्त हो।।

आत्मा को सुखी बनाना नहीं है। आत्मा को देखकर सुखी होना है। हम आत्मा को सुखी करना चाहते हैं। ऐसे ही आत्मा को दुःखी मान लिया है फिर विषयों से सुखी बनाना चाहते हैं; यह उल्टी पाटी है, विपरीत रास्ता है। अपने को दुःखी माने फिर संयोगों से, विषयों से, नाना प्रकार की बाहर की कल्पनाओं से आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं। आत्मा को सुख स्वरूप जाने बिना सुखी होने के सारे प्रयत्न मिथ्या हैं। उन प्रयत्नों का फल क्या हुआ? **'सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुख जाता दूर है।'** पर क्यों दूर है? क्यों दूर हो रहा है? क्योंकि हम आत्मा से दूर हो रहे हैं।

प्रभुता-शुद्ध दशा, पामरता-अशुद्ध दशा। **'प्रभु रूप देखे आत्म को वह प्रभुता को प्राप्त हो और पामर देखे आत्म को वह पामरता को प्राप्त हो'** लिखा तो यह है कि आत्मा को उज्ज्वल करने से शौच धर्म होता है अर्थात् आत्मा को उज्ज्वल, पवित्र, शुद्ध देखने से शुद्धता आती है। लोक में एक वाक्य बोला जाता है, 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' यहाँ भी यही बात समझना चाहिये।

शंका-समाधान क्या होता है? बाहर से शंका होती है और अन्दर से समाधान होता है - शंका कहाँ से होगी और समाधान कहाँ से आएगा? अन्तर्मुख हुये बिना समाधान नहीं होता। जितनी भी शंकायें हैं, वह आत्मा से बाहर होने से होती हैं, इसलिये आत्मज्ञान में समस्त शंकाओं का समाधान है। सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि हम अपने को आत्मा अनुभवें। उस आत्मज्ञान में सारी शंकाओं का समाधान है।

यदि हम अपने को आत्मा देखेंगे तो सुखी होंगे, तब इन सब विकल्पों के लिये अवकाश ही नहीं रहेगा, जिज्ञासा ही नहीं रहेगी। ज्ञानी का एक लक्षण यह भी कहा है कि परद्रव्यों को जानने का उसका उत्साह ही निवृत्त हो गया है। जैसे शीलवती नारी को पर-पुरुष को देखने का उत्साह ही नहीं होता, सन्तोषी व्यक्ति को कोई कहे - "सुनो! एक बहुत अच्छी टेक्नोलोजी आई है, वह इतनी बढ़िया बिल्डिंग बनी है, उस धन्धे में बहुत लाभ है" वह कहेगा - क्या करना है हमें? सन्तोषी व्यक्ति को उन बातों में कोई उत्साह नहीं होता।

जो आत्म स्वरूप में सन्तुष्ट हैं, उन्हें पर-द्रव्यों को जानने

का उत्साह ही नहीं होगा। जब जानने का उत्साह ही नहीं होगा तो अनुकूल बनाने का या प्रतिकूल मानकर हटाने की बातें तो बहुत दूर हैं। कषाय के अनुसार परिणमाने की उसकी पहली इच्छा ही समाप्त हो गई।

विषय ग्रहण की इच्छा की बात करें तो आत्मा को जानने का फल लोकालोक का जानना हो जाएगा, यह तो बाद की बात है, पहले लोकालोक को जानने की अभिलाषा ही मिट जाएगी और वीतरागता आ जाएगी। वीतरागता बिना सर्वज्ञता कैसे होगी?

अपने को आत्मा विचार करके, आत्मा को समझकर धर्म को समझना चाहिये। शौच धर्म शरीर की परिणति नहीं है, शौच धर्म आत्मा की परिणति है। जब आत्मा की परिणति है तो वह आत्मामय होगी।

आत्मा को शुद्ध अनुभवने पर कषाय रहित, लोभ रहित परिणति होती है। लोभ कहने पर लोभान्त अर्थात् उसमें सर्व कषायों को गर्भित समझना चाहिये। कषायों में सबसे अन्त में लोभ का ही तो अभाव होता है और आप जानते हैं कि अन्तिम डिग्री जब लिखी जाती है तो पूर्व की सब उसमें गर्भित होती है। जैसे भगवान को वीतराग कहा तो वीतक्रोध, वीतलोभ हैं या नहीं? वीतराग में सब गर्भित हैं। वीतमोह बिना तो वीत क्रोध, वीतलोभ हो ही नहीं सकते; तो जब लोभ कहें तो उससे पूर्व की सब कषायें समझ लेना चाहिये।

हमने तो बाह्य की मलिनता को ही मलिनता मान लिया है और बाह्य की उज्ज्वलता को ही उज्ज्वलता मान लिया है। बढ़िया,

साफ-सफाई में संतुष्ट हैं, लेकिन विचार करो कि लौकिक में भी कोई अपने घर के सामने की सड़क साफ करे और कचरा अपने घर में भर ले - ऐसा तो नहीं होता, लेकिन आप क्या कर रहे हैं? शरीर की और संयोगों की सफाई और उनकी सम्हाल की ओर तो आपका ध्यान है, लेकिन परिणामों की उज्ज्वलता की ओर आपका ध्यान नहीं है।

जैसे आर्जव धर्म के प्रसंग में मन-वचन-काय की सरलता की चर्चा है, ऐसे ही आगम में शौचधर्म में मन-वचन-काय की उज्ज्वलता की चर्चा है, मन का अर्थ यहाँ परिणाम अर्थात् विचार समझना। जब हमारे विचारों में पवित्रता, उज्ज्वलता आयेगी तो हमारे वचन और काया की चेष्टा भी पवित्र होगी।

वृहद् द्रव्यसंग्रह की टीका में लिखा है कि - स्नानादिक करने पर भी काम क्रोधादि से जिनकी परिणति मलिन है, वे शुद्ध नहीं माने जाते। विषय-कषाय का पोषण, विषय-कषाय की प्रेरणा, विषय-कषाय का प्रोत्साहन, विषय-कषाय की अनुमोदना, जिन वचनों में होती है, वे वचन अशुद्ध कहलाते हैं। यहाँ तोतली भाषा की या व्याकरण आदि की अशुद्धता की बात नहीं है। किसी ने कहा कि - सुनो! देह है सो आत्मा है, हिंसा से धर्म होता है - ये अशुद्ध वचन हैं, मिथ्या वचन हैं।

जिन वचनों में मिथ्यात्व का पोषण होता है, विषय-कषाय का पोषण होता है, पोषण तो बहुत दूर की बात है, अनुमोदना होती है, प्रोत्साहन होता है, प्रेरणा होती है, उसे पापोपदेश कहते हैं, दुःश्रुति कहते हैं - ये वचन की अशुद्धता का अर्थ है। शुद्ध संस्कृत बोलना, शुद्ध अंग्रेजी बोलना, शुद्ध हिन्दी बोलना, यह

बात यहाँ नहीं कही जा रही है। जिनमें शुद्ध तत्त्व की प्ररूपणा है, जिनमें शुद्ध परमेश्वरों का गुणानुवाद है, वे वचन शुद्ध वचन कहलाते हैं, मंगल वचन कहलाते हैं।

आत्मख्याति टीका की वचनिका में पंडित जयचन्दजी लिखते हैं कि – **'ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का वचन ही मंगल वचन है' क्योंकि ज्ञान सर्वोत्कृष्ट मंगल है।** मंगल और अमंगल में इतना ही तो अन्तर है; परद्रव्य मंगलरूप या अमंगलरूप नहीं होते, वे तो भिन्न हैं। राग-द्वेष, अज्ञान ये अमंगलरूप हैं और वीतराग-विज्ञान मंगलरूप है। **'मंगलमय मंगल करण, वीतराग-विज्ञान।'** इसके विपरीत अमंगलमय अमंगलकरण, राग-द्वेष अज्ञान। इतनी सी बात है। इनका पर से क्या सम्बंध? तो ज्ञान सर्वोत्कृष्ट मंगल है। मोहादि भाव ये अमंगल हैं, दुःख रूप हैं, दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का वचन वह मंगल वचन है। ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का चिन्तन है, वह मंगल चिन्तन है और जब यह जीव मंगल चिन्तन में बैठता है तब काया की सहज स्वाभाविक दशा निश्चल दशा, शान्तदशा, शान्त मुद्रा वह काया की पवित्रता है। पूजन में भी कहा है –

ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौचगुण साधु लहै।।

निर्विकार चेष्टा वह काया की शुद्धता है। लौकिक में आप कहते हैं कि इसकी दृष्टि बहुत खराब है। जब देखो तब ऐसे देखता है, दृष्टि खराब है तो किसी आई स्पेशलिस्ट के पास ले जाओ। दृष्टि खराब का अर्थ क्या है? उसी मन्दिर को कोई श्रद्धालु भक्ति से देखता है और उसी मन्दिर को कोई चोर देखे

तो उसकी दृष्टि दूसरे प्रकार की होती है। ईर्ष्या से देखने वाले क्या देखते हैं? प्रीति से देखने वाले क्या देखते है? दृष्टि-दृष्टि में अन्तर है। जिस दृष्टि में ऐसा लगे कि जब देखो तब ऐसा लगता है कि खाये जा रहा है, यह काया की अशुद्धता है। जिस दृष्टि में जिस मुद्रा में, सर्व जीवों के प्रति अभय वर्तता हो, बिना बोले ही जो मुक्ति का मार्ग दर्शा रहे हैं। शान्त मुद्रा, शान्तदशा - यह काया की शुद्धता है। विचारना!

मुनिराज को भाषा समिति होती है। भाषा समिति का अर्थ क्या समझना? हित-मित-प्रिय वचन। आचार्य महाराज ने कैसे-कैसे वचन बोले। ढीठ है, क्लीव है, क्या यह भाषा समिति है? मूढ़, दुरात्मन! यह भाषा समिति कहाँ से आ गई? हम वात्सल्य का अर्थ मात्र यही समझते हैं कि अपने घर कोई आया तो कहते हैं "बैठो भाई! पानी लायें? भोजन बनवाते हैं और आज तो यहीं रुकना।" हम गये थे उनके यहाँ तो उनका वात्सल्य देखा, उनका बड़ा वात्सल्य है। वात्सल्य का एक रूप यह भी है; लेकिन क्या यही वात्सल्य है। ताड़ना करके दोष छुड़ाना यह भी वात्सल्य का रूप है।

माता ताड़ना करके भी दोष छुड़ाती है, यह भी माता का वात्सल्य है। श्री गुरु भी ताड़ना करके दोष छुड़ाते हैं, यह भी उनका वात्सल्य है, प्रेम ही है। नहीं समझे हो तो एक दृष्टान्त से समझ लेना। कहीं एक सीढ़ी लगी हो और एक बालक उस पर चढ़ रहा हो, आप उधर से निकले। कई तो वैसे ही देखकर चले जाएँगे। आप उस बालक से कहोगे 'वहाँ नहीं चढ़ते गिर जाओगे, हटो यहाँ से।' लेकिन आपका बच्चा हो तो क्या करोगे? अगर

वह वहाँ से नहीं हटेगा तो क्या करोगे? क्या कहकर चले जाओगे? नहीं माने तो मरो - यह नहीं कहते। मानता है कि नहीं, हटता है कि नहीं; फिर आयें हम? अगर वह नहीं हटेगा तो उसे ताड़ना करके भी हटाओगे कि नहीं हटाओगे? दूसरे के बच्चे को ऐसा नहीं कहते। जिसे अपना मान लिया है उसे डाँट करके भी हटाया आपने, दूसरे के बच्चे को क्यों नहीं हटाया, वैसे ही कहकर चले जाते, अपने बच्चे से प्रीति विशेष है।

ताड़ना करके भी जो आपके दोष छुड़ाते हैं, ऐसे सन्तों को आपसे प्रीति विशेष है। अगर वैसे ही दिखावटी प्रीति हो तो कहते हैं कि समझना हो तो समझो, नहीं तो जाओ भाड़ में, लेकिन ऐसा नहीं कहा। दृष्टान्त से समझाया, युक्ति से समझाया, भेद-प्रभेद करके समझाया, जिस-तिस प्रकार से समझाया। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने तो लिखा कि विरक्त गुरुओं के द्वारा बारम्बार समझाया जाता है कि आत्मा तो आत्मा है, ज्ञायक तो ज्ञायक है। आत्मा तो ज्ञानमय है, दर्शनमय है, चारित्रमय है। भेद करके समझाया, प्रेरणा करके भी उत्तम मार्ग में लगाया, प्रोत्साहन दिया।

जरूरत पड़े तो वैद्य फोड़े को दबाकर भी उसका मवाद निकालता है। यह वैद्य की निर्दयता नहीं है, वह तो वैद्य की दया ही है। ऐसे ही ताड़ना करके जो दोष छुड़ाये जाते हैं वह श्रीगुरु की कषाय नहीं है, बल्कि करुणा ही कही जाएगी। **परमार्थ तो थोड़ा होता है लेकिन उसका व्यवहार बड़ा होता है।**

परमार्थ से यदि देखा जाए तो शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो

निष्कषाय दशा है, शान्त दशा है, उसका नाम ही उत्तम शौच धर्म है, उसका नाम उत्तम क्षमा धर्म है। नाम अलग-अलग हो गये - इस विवक्षा से देखा जाए तो उसी साम्य भाव का नाम, उसी ज्ञान-आनन्दमय दशा का नाम उत्तम शौच धर्म है, जिसका नाम उत्तम मार्दव धर्म है। उसका नाम क्यों बदल गया? उस परिणाम में मायाचार नहीं है इसलिये उसका नाम उत्तम आर्जव धर्म है। उस परिणाम में लोभ नहीं है इसलिये उसका नाम उत्तम शौच धर्म है। उसी परिणाम का नाम क्षमा, उसमें क्रोध नहीं तो उसका नाम उत्तम क्षमा कह दिया, एक व्यक्ति के अनेक गुणों की अपेक्षा उसके नाम रख देते हैं। यह आदमी बहुत पुरुषार्थी है, विनयवान है, बहुत उदार है।

समयसारजी में आया है - धीरता, उदारता, अनाकुलता ये तो शान्त नृत्य के आभूषण हैं। यह जो ज्ञान है, वह आनन्द को उत्पन्न करके प्रगट होता है। बहुत लोगों को लगता है कि कहाँ तक सहन करें, यहाँ तो जल्दी उकता जाते हैं, लौकिक कार्यों में नहीं उकताते!

यदि कोई बीमारी लग गई हो तो डॉक्टर ने कहा कि उसका इलाज कराओ। दो महीने, चार महीने, छह महीने भी यदि इलाज चले तो वहाँ नहीं कहता कि कहाँ तक दवाइयाँ खाएँ? औषधि कब तक खाई जाती है? जब तक रोग न मिट जाए, स्वस्थ न हो जाएँ! रोग मिट जाने के बाद जो कमजोरी रहती है उसके लिये हमने कहा कि रोग मिट जाए और स्वस्थ हो जाएँ।

चलना कब तक होता है, जब तक गन्तव्य न मिल जाए। ऐसे ही भेदज्ञान का अभ्यास भी कब तक होना चाहिये जब

तक ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाए। सहन करने की बात यदि आए कि कहाँ तक सहन करें, सहन करने की भी एक सीमा होती है; कौन कहता है कि सहन करने की भी एक सीमा होती है?

क्षमा आत्मा का धर्म है, सहनशीलता भी आत्मा का धर्म है। आत्मा अनंत है, सहन शक्ति भी अनन्त है। कहाँ तक सहन करने की बात है, जितने कर्म बन्धते हैं उनके उदय में जितना-जितना फल आ रहा है, उसको सहन ही तो करना है। सहन करने के अलावा और कोई उपाय भी तो नहीं है। करोगे क्या? अगर सहन नहीं करोगे तो संक्लेश करोगे? कहाँ तक की बात नहीं है, पहले थोड़ा थोड़ा दर्द रहता था फिर बढ़ गया। कहाँ तक सहन करें? यदि सहन नहीं करोगे तो क्या करोगे? उसमें कुछ हेराफेरी करने की शक्ति तो तुममें है नहीं और जो उदय आदिक की परिणमन की व्यवस्था है; इसे निमित्त-नैमित्तिक भाव से देखा जाए तो वो तो जो है सो है, इसलिये जहाँ तक उदय है वहाँ तक सहन करनी पड़ेगी।

आत्मा अनन्त है उसका ज्ञान भी अनन्त है, उसका दर्शन भी अनन्त है, सहज सुख भी अनन्त है, प्रभुता भी अनन्त है, सुख तो चाहते हैं अनन्त और दुःख सहन करने में कहते हैं कि कहाँ तक सहन करें? इतनी आड़ लगाता है, इतनी मायाचारी करता है, "बहुत सुन-सुन कर थक गये। सब बेकार है! जितना सुना है, उतना ही जीवन में उतार लो! अरे, दो अक्षर उतार लो तो कल्याण हो जाए! सुनने में क्या रखा है? सुनते जाओ सुनते जाओ!" बात तो सच्ची सी लगती है लेकिन अभिप्राय खोटा

है। नीयत खराब है। कभी लौकिक क्षेत्र में तुमने ऐसी बातें नहीं सोची! "इतने कपड़े रखे हैं, पहले उन्हें फट जाने दो, उसके बाद नये बनवाएँगे।" जितना घर है उतना रहने के लिये बहुत है। काहे को और बनाते चले जाएँ! जितना पैसा है उतना भी नहीं भोग पाएँगे, फिर क्यों कमाते चले जाएँ! जीवन थोड़ा है, शक्ति थोड़ी है, समय थोड़ा है, अपना हित कर लेना चाहिये! कितना करें? यह तर्क भोगों में नहीं लगाया और यहाँ कहता है कि कितना सुनें? यह मायाचार है, खोटा अभिप्राय है। उसी परिणति में साम्य भाव वह उत्तम क्षमा है, उसी का नाम मार्दव है, उसी का नाम आर्जव है, उसी का नाम शौच है। कषायें जितनी भी हैं, वे सब अपवित्र हैं।

समयसारजी में एक कलश है, **'शुद्धात्मा ऐसा है जिसके ग्रहण करने पर ग्रहण योग्य का ग्रहण होता है और छूटने योग्य सब छूट जाता है।'** मान करते जाएँ तो ऐसा नहीं लगता कि मान करने से ब्रह्मचर्य खण्डित हो रहा है। लगता है कभी! मान का सम्बन्ध हमने पर से जोड़ा है। मार्दव क्या अकेला होता है? यह कोई अटकल-पच्छू (कल्पना) के इलाज नहीं हैं। सच्ची बात है।

अरे! शरीर जब तक निजपने दिखता है और शरीर में कुछ करने लायक, कुछ हटाने लायक दिखता है तब तक ब्रह्मचर्य भी कैसे हो सकता है? **ब्रह्मचर्य का घातक केवल अब्रह्म संज्ञा नहीं, अब्रह्म क्रिया नहीं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव भी गर्भित समझना चाहिये। ब्रह्मचारी मायाचारी नहीं होता, मायाचारी ब्रह्मचारी नहीं होता। ब्रह्मचारी लोभी नहीं**

होता और लोभी ब्रह्मचारी नहीं होता। इसप्रकार से सोचना चाहिये।

शरीर में फोड़े होते हैं, एक जगह ठीक होते हैं तो दूसरी जगह हो जाते हैं। जब तक पूरे शरीर का रक्त शोधन नहीं हो जाता, तब तक फोड़े होते रहते हैं, दबते रहते हैं, उठते रहते हैं। इसीप्रकार ये कषायों के फोड़े हैं। सच बात तो यह है कि ये सब कषायों के फोड़े फुंसी हैं। शौच धर्म में जो पवित्रता कही उसमें समस्त कषायों के अभाव को अन्तर्गर्भित समझ लेना चाहिये, लेकिन हमने तो इतनी संकीर्ण दृष्टि से, इतनी उपेक्षा दृष्टि से सुनना-पढ़ना शुरू किया और हमारा पाचन इतना कमजोर है कि सुनते हैं तो यह लगता है कि अब दूसरों को समझा दें। जब लोभ की बात आई तो लोभ को भी हमने पूरा नहीं समझा। केवल पैसा का लोभ, उसमें भी यदि हमारे इच्छानुकूल खर्च नहीं करे तो हमने उसे लोभी मान लिया।

श्रीमद् रायचन्द्रजी ने कहा - लोभी नहीं होना यह तो ठीक है, लेकिन मिथ्या उदार भी नहीं होना! मितव्ययी होना अलग बात है और लोभी होना अलग बात है। **यदि आप न्याय से कमाते हैं और विवेक से खर्च करते हैं, तो यह लोभी का लक्षण नहीं हो गया।** बिना सोचे-विचारे उल्टा सीधा खर्च कर दिया - अन्याय से कमाये और अविवेक से खर्च करे और तृष्णा में जिए तो वह निर्लोभता नहीं है। बड़ा लोभी आदमी है, बड़ा निर्लोभी आदमी है, आपने माप कहाँ से की है, अपनी-अपनी इच्छा से? पैसों के लोभ की बात तो बहुत बाद की है, लौकिक है एकदम! सच पूछो तो विषयों का लोभी ही लोभी है।

अमृतचन्द्रस्वामी ने तो ज्ञेय लुब्धता की बात की है। ज्ञेय को जानने के लिये अपने ज्ञान को ज्ञेयों में निरन्तर भटकाता रहता है। यह जानूँ, यह जानूँ, यह जानूँ! पहले कलश की टीका में ही निषेध किया है, शुद्धजीव को जानने पर जाननहारे को ज्ञान भी होता है और सुख भी होता है, इसलिए उसमें सारपना घटित होता है अर्थात् वह जानने योग्य है जानो उसको। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्य को जानने पर जाननहारे को ज्ञान नहीं होता और सुख भी नहीं होता, इसलिये इसमें सारपना घटित नहीं होता। देखो! **आत्मा भी ज्ञेय है और विश्व भी ज्ञेय है। लेकिन दोनों के ज्ञेयपने में अन्तर है? आत्मा जानने योग्य ज्ञेय है। विश्व तो ज्ञान में झलकने योग्य ज्ञेय है। जो ज्ञान में जानने योग्य ज्ञेय है वह सब जानने में आ जाएगा। क्यों परेशान होते हो?**

जैसे धन की बहुत अभिलाषा हो तो क्या विचार करना चाहिये? भाई! कितना भी हो, भोगेगे कितना? आपका इतना-सा (छोटा-सा) कमरा हो या बहुत बड़ी बिल्डिंग हो, रहोगे कितने में? चाहे आपके पास दो जोड़ी कपड़े हों चाहे सौ जोड़ी कपड़े हों पहनोगे कितने! बादबाकी क्या होगा इसका यह मत सोचो? देखो! त्याग के लिए सबसे पहले यह बात है कि हमारी दृष्टि में, हमारे विचारों में उनकी निरर्थकता भासित होना चाहिये।

आपने कोई पुरानी बिल्डिंग तोड़ दी, उसमें से मलबा निकला। उसके लिये किसी ने पूछा - क्यों भाई जी! यह मलबा ले जाएँ? आपने विचार किया, अपने को भराव आदि तो कुछ

करना नहीं है, अपने तो कुछ काम का है नहीं। ले जाओ भाई! कोई दिक्कत नहीं है। किसी ने पूछा मलबा ले जाएँ? नहीं वह भराव कराना, है न वहाँ। मतलब यह है कि छूटेगा तब जब हमें अपने मतलब का भासित नहीं होगा।

जानने के प्रसंग में भी ऐसे ही यहाँ समझना। यदि सारा विश्व भी जानने में आ जाए तो सुख किसमें से आएगा? विश्व में से तो नहीं आयेगा। तब जानने की जिज्ञासा खत्म हो जाती है।

यहाँ लोभ के प्रसंग में ज्ञेय लुब्धता की बात आई। विषयों का लोभी, पुण्य का लोभी। **स्वरूप के लाभ बिना लोभ मिटता नहीं है। स्वरूप का लाभ होने पर लोभ मिटता है।** लोग कहते हैं कि दो-चार प्रवचन सुनने को मिल गये तो बहुत लाभ हुआ, क्या लाभ हुआ? हमें भी समझाओ भाई! अरे साहब! बहुत लाभ हुआ। अच्छी-अच्छी बातें जिन्हें हम जानते भी नहीं, सुनने को मिली। लाभ का कोई लक्षण बता दो! ऐसा लगता है कि सब छोड़कर यहाँ रहें। क्या यह लाभ है?

अगर वैद्य के पास लाभ मिले तो ऐसा लगता है कि रोज यहाँ आयें और रोज दवाई लें! बहुत लाभ होता है, यह लाभ की कोई परिभाषा है? यह तो लोभ की परिभाषा है। **'तृष्णा नागिन ज्यों-ज्यों डंके।'**

अरे भाई! अपना सुख तो अपने में है, अपना ज्ञान अपने में है। अपनी प्रभुता अपने में है। अपना सर्वस्व अपने में भासित नहीं हुआ और पर से सुख की कल्पना नहीं मिटी, पर से लाभ-हानि की कल्पना नहीं मिटी तो सच पूछो तो लाभ हुआ ही नहीं। ईमानदारी से सोचो! स्वरूप में लाभ-हानि

होती है क्या? स्वरूप कैसा है? अगुरुलघु है। स्वरूप में कभी भी एक गुण बाहर से भीतर नहीं आता और एक गुण भी भीतर से निकलकर बाहर नहीं जाता अर्थात् न कमी होती है न अधिकता होती है अर्थात् न लाभ होता है, न हानि होती है। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, ज्ञान से पूरा, दर्शन से पूरा, सुख से पूरा, शक्ति से पूरा, प्रभुता से पूरा - ऐसा सर्व प्रकार से परिपूर्ण स्वरूप जब समझ में आया, अपने में सन्तुष्टि हुई तब पर से लाभ-हानि की बुद्धि चली गई।

वैद्य से लाभ होने का मतलब यह है कि वैद्य के पास जाने की जरूरत नहीं रहे। सुनने का लाभ यह है कि सुनने की इच्छा समाप्त हो जाए। **भगवान के दर्शन का लाभ यही है कि जगत को देखने की जरूरत नहीं रहे। जब तक ऐसी परिणति न हो तब तक जीव को स्वरूप का लाभ नहीं होता, लाभ कहो, प्राप्ति कहो, अनुभूति कहो एक ही बात है। स्वरूप की दृष्टि के बिना, स्वरूप की अनुभूति के बिना मालूम है कौन-सा लोभ होता है? वह अनन्तानुबन्धी लोभ है।** जो स्वरूप में सन्तुष्ट नहीं होता वह जगत की अनन्त वस्तुओं को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। लौकिक में कहें तो इन्द्र के, चक्रवर्ती के वैभव को, भोगों को पाकर भी तृप्त नहीं होता। ऐसे ही यहाँ देखें तो ग्यारह अंग नौ पूर्व का पठन-पाठन होने पर भी, धारणा ज्ञान हो जाने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता।

आत्मा का जो शौच धर्म है यह आत्मा के आश्रय से होता है और जब आत्मा के आश्रय से होता है तो उसकी अभिव्यक्ति वचन और काया में भी यथायोग्य भूमिका के अनुसार होती है।

यहाँ बाह्य आचरण की, पवित्रता का निषेध नहीं कर रहे हैं। बाह्य आचरण में ही पवित्रता मान लेने का निषेध कर रहे हैं।

मूढ़ता के प्रसंग में इसी शास्त्र की वचनिका में स्नान की चर्चा करते हुए पण्डित सदासुखदासजी ने कहा है – शरीर तो मल का घड़ा है, पानी से धोने से शुद्ध कैसे होगा? धातुओं, उपधातुओं से भरा हुआ यह शरीर स्नान करने से शुद्ध नहीं होता और जो जल है वह अमूर्तिक आत्मा को स्पर्श कर नहीं सकता। तब जल से न शरीर शुद्ध हुआ न आत्मा शुद्ध हुई। आत्मा ज्ञान-ध्यानमय परिणति में शुद्ध होता है और शरीर की शुद्धता की तो कोई बात ही नहीं है। तब स्नान व्यर्थ है? तब पण्डितजी ने कहा – **'परन्तु गृहस्थ दशा में मुनिराज के समान स्नान का त्याग कर देना उचित नहीं है। जब तक विषय-कषायों की प्रवृत्ति नहीं छूटी है, तब तक उनमें ग्लानि तो बनी रहे; वैसे ही बिना स्नान किये हुए स्वाध्याय, पूजा, भक्ति, भोजन-पान आदि में लग जाएँ, तो पाप के प्रति ग्लानि चली जाती है। जब पाप के प्रति ग्लानि नहीं रहेगी तब पाप का छूटना दुर्लभ हो जायेगा। स्नान तो पाप की ग्लानि को मेटने के लिए करते हैं, अतः स्नान का प्रयोजन आत्मा को शुद्ध करना नहीं है।** यह चरणानुयोग की शैली अपनाई है और यहाँ तक कहा कि 'मुनिराज तो नीच जाति के मनुष्य का स्पर्श हो जाने पर दण्ड स्नान करते हैं, उस दिन उपवास करते हैं।' ज्ञान स्नान तो करते ही हैं बाहर में दण्ड स्नान भी करते हैं। मुनिराज भी शौच के लिये कमण्डल रखते हैं, तो हम बाहर की शुद्धता का निषेध नहीं कर रहे हैं। हम तो यह बता रहे हैं कि बाहर की

शुद्धता को ही आपने शुद्धता मान लिया और कई बार तो बाह्य शुद्धता के चक्कर में न जाने कितनी कषायें कर बैठते हैं, परिणति को अशुद्ध कर लेते हैं और कई बार हम क्या कर लेते हैं कि भाई! इससे तो कषाय होती है इसलिये जो बने, जैसा बने वैसा करो!

कषाय किसलिये बनती है, जैसे कोई भाई शुद्ध भोजन करता है, शुद्ध चौके में भोजन करता है, किसी बच्चे ने चौके में कुछ कर दिया तो इसको आती है गुस्सा! बड़ी आफत है हमारा चौका खराब कर दिया, हमारे कपड़े छू लिये इसने। तब हमने उससे कहा - अब छू, छू करने से कोई फायदा तो है नहीं, इससे तो कषाय होती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है, कि चाहे जैसी क्रिया करो, शिथिलाचार के पोषण का निषेध है। तुम्हें जो कषाय हो रही है, वह तो तुम्हारी सहनशक्ति नहीं होने से हो रही है।

कषाय के भय से क्रिया की निर्मलता भी छोड़ना उचित नहीं है और क्रिया की निर्मलता का पक्ष लेकर कषाय करना भी ठीक नहीं है। बच्चे ने यदि आपका कपड़ा छू लिया या आपके चौका में घुस गया तब आपको शान्त चित्त से बैठना चाहिये, कोई बात नहीं। दूसरे दिन से बहू भी समझ जाती, बच्चे भी समझ जाते हैं कि दादाजी की रसोई मत बिगाड़ो! शान्ति से सारा काम हो जाता है। कषाय से आपका पुण्य क्षीण हुआ, कषाय से क्रिया भी नहीं सुधरी और परिणाम भी खराब हुए।

ये वीरता आभूषण है, अनाकुलता आभूषण है। अज्ञानी और ज्ञानी में कितना अन्तर है। **एक पदार्थ को अज्ञानी जाने और**

अनन्त विकल्प खड़े हो जाएँ, ज्ञानी के ज्ञान में अनन्त पदार्थ झलकें और एक विकल्प खड़ा न हो। शौच धर्म को हमें आत्मा से समझना चाहिये। हम तो आत्मा हैं और आत्मा की पवित्र दशा का नाम शौच धर्म है। वह पवित्र दशा आत्मामय है और यदि हम व्यवहार (भेद) से कहें तो वह आत्मा की ही अवस्था है अथवा परमार्थ (अभेद) से कहें तो वह आत्मा ही है।

आत्मा की आत्मामय शौच दशा, पवित्र दशा का नाम शौच धर्म है, ऐसा धर्म परम आनन्दमय है, सहज है, स्वाभाविक है, उत्कृष्ट है, सुख का कारण है और जीवन में प्रगट करने योग्य है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम शौच धर्म - सार

1. परिणामों की पवित्रता का नाम शौच है।
2. आत्मा का अनुभव होने पर तृप्ति, सुख, संतोष होता है, वहाँ वांछा नहीं होती है और वांछा के अभाव को शौच धर्म कहा है।
3. आत्मा की आत्मामय परिणति, वैराग्यरूप परिणति उसका नाम शौच धर्म है।
4. सहजप्राप्त भोगों में भी चाह नहीं होना यह निस्पृहता है। पुण्य के उदय से वैभव मिला लेकिन उसको नहीं चाहता यह निस्पृहता है।
5. ज्ञेयलुब्ध जीव को ज्ञायक की अनुभूति नहीं होती है।
6. आत्मा के आश्रय से चाह मिट जाती है स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, इसी का नाम शौच धर्म है।
7. अज्ञानी जीव अनुशासन के नाम पर क्रोध स्वाभिमान के नाम पर मान, शिष्टाचार के नाम पर मायाचार और आवश्यकता के नाम पर लोभ करता है।

उत्तम सत्य धर्म

उत्तम सत्य धर्म की चर्चा रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका में सत्य वचन के माध्यम से की है। वचन या भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। मुद्रा भावों का दर्पण है। मुद्रा से भाव प्रकट होते हैं और भाषा या वचन भावों की अभिव्यक्ति का साधन है, उनसे भावों का आदान-प्रदान होता है।

सत्य वचन अलग है और सत्य धर्म अलग है। जैसे क्षमावाणी बोलते हैं न! वाणी में क्षमा नहीं है, क्षमा में वाणी नहीं है। वाणी तो पुद्‌गल की परिणति है और क्षमा भाव आत्मा का परिणाम है, लेकिन क्षमा भाव जिसमें निमित्त है, ऐसे वचनों को क्षमावाणी कह देते हैं। **इसीप्रकार जिसके अन्तरंग में सत्य धर्म प्रगट होता है उसके वचन भी सत्य होते हैं** और जिन वचनों से सत्य समझा जाता है, सत्य की प्ररूपणा होती है, उन वचनों को भी सत्य वचन कहते हैं।

देखो! पंचपरमेष्ठी में सिद्ध भगवान को अरहन्त भगवान के बाद लिया गया है। सिद्ध होने के बाद अरहन्त नहीं होते फिर भी णमोकार मंत्र में पहले अरहन्त को नमस्कार किया है, क्योंकि उनके वचनों से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है। सिद्ध भगवान के स्वरूप को भी तो हम अरहन्तदेव की वाणी से ही समझते हैं। फिर भी वचन और धर्म का अन्तर हमें समझना चाहिये।

यहाँ सत्य धर्म की चर्चा में यह कहा है कि जो सत्य वचन है, वही सत्य धर्म है। शौचधर्म में कहा था कि शौचधर्म तो

आत्मा को उज्ज्वल करने से होता है। इसका अर्थ यह था कि उज्ज्वल करना नहीं है, जानना है, समझना है, अनुभवना है। ऐसे ही यहाँ कहा है कि जो सत्य वचन है, वही सत्य धर्म है। इसका अर्थ क्या समझना? सत्य वचनों के द्वारा जो कहा जाता है, सत्य वचन कहें या जिन-वचन कहें, उनमें धर्म का जो स्वरूप कहा है, वही धर्म है।

श्रावकाचार के दूसरे श्लोक की टीका में पण्डितजी लिखते हैं कि - धर्म तो लोक में सब कहते हैं, धर्म के सम्बन्ध में मिथ्यात्व ही यह है कि जो धर्म है उसे लोग जानते नहीं हैं और जिसे धर्म मानते हैं, वह धर्म है नहीं। धर्म का स्वरूप क्या कहा - '**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।**' जगत के जीव किसे धर्म कहते हैं, वह हम नहीं कहते लेकिन जो धर्म के ईश्वर हैं, स्वामी हैं, प्रणेता हैं, ऐसे सर्वज्ञ देव किसे धर्म कहते हैं? सत्-दृष्टि, सत्-ज्ञान, सत्-आचरण कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो एक ही बात है, उसे धर्म कहते हैं, उसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं। सत्य धर्म में मूल शब्द है सत्, तो सत्य धर्म का अर्थ हुआ सत् दृष्टि। सत् स्वरूप की दृष्टि हुई, वह सत्य धर्म का मूल है। सत् स्वरूप का अनुभव हुआ वह सत्य है - धर्म के अनुभवन में सत्य धर्म का प्रकाश होता है। ज्ञान प्रकाशक है न।

इस सत्य धर्म का अनुभवन कषायों से रहित है, निर्विकल्प आनन्दरूप है, समता भावरूप है, वीतराग भावरूप है, इसलिये उसका नाम धर्म है। सत्यधर्म किसका नाम है? सत् दृष्टि है वह धर्म का मूल है। '**दंसण मूलो धम्मो**' जो सत् ज्ञान है, वह धर्म का प्रकाशक है। ध्यान रखना दर्शन धर्म का मूल है, इसलिये

वह धर्म नहीं है – ऐसा नहीं समझना। जैसे वृक्ष का जो मूल है, वह भी वृक्ष है। आयुर्वेद में वृक्ष के जो पंचांग कहे हैं, उसमें मूल है या नहीं? फिर भी जैसे पत्ते टहनी आदि हैं, वैसे मूल को नहीं समझ लेना। पतझड़ में यदि वृक्ष के सारे पत्ते भी झड़ जाएँ तो भी वृक्ष का कुछ नहीं होगा। दो चार डालियाँ टूट जाएँ तब भी वृक्ष नष्ट नहीं होगा। यदि मूल खोखला हो जाए या सूख जाए तो वृक्ष नष्ट हो जाएगा। मूल वृक्ष का आधार है, एक अंग नहीं, प्रमुख अंग है।

सत्-दृष्टि सत्य धर्म का मूल है। सत्-दृष्टि के बिना सत्य धर्म कहाँ से आयेगा? धर्म तो सत्य है। क्षमा, मार्दव आदि तो इसके विशेषण हैं। धर्म तो साम्यभावरूप है, वीतरागभाव रूप है। सत्य धर्म का मूल सत्-दृष्टि है 'जो तू सींचे मूल को, फूले फले अघाय।' अगर मूल को सींचेंगे तो वृक्ष फलेगा, फूलेगा। मूल के हरे होने पर कैसा चमत्कार है, देखो! फल बेचने वाला फलों पर दिन भर पानी छिड़कता है फिर भी रस सूखता है, लेकिन जो फल वृक्ष पर लगा है, जेठ की धूप में भी फल का रस सूखता नहीं है। फल में जो रस है, टहनी में जो हरापन है उन सबका कारण मूल में है। मूल में जब तक पानी है तब तक वृक्ष सूखने वाला नहीं है, इसलिये मूल ही आधार है।

सत्य धर्म के लिये हम केवल लौकिक रीति से सत्य वचन बोलते हैं, हम कभी झूठ नहीं बोलते – यह अहंकार सत्य धर्म में कहाँ से आ गया? क्रोध भी सत्य धर्म का विरोधी है, मान, माया, लोभ, भय, कषाय, कामादिक भाव भी सत्य धर्म के विरोधी हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी तो सत्यव्रत की भावनाओं में कहते हैं कि – जिन्हें सत्य व्रत का पालन करना है, सत्य धर्म की निर्दोषता इष्ट है, उन्हें '**क्रोधलोभभीरूत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं।**' इन सबको आगम के अनुसार समझना एवं बोलना चाहिये। क्रोध में यदि सच्ची बात भी कही जाए तो वह सच्ची नहीं है, यह समझ लेना चाहिए। वस्तुस्वरूप के विपरीत जो श्रद्धा है, वह विपरीत है, सत्-असत् के विवेक बिना जो ज्ञान है, वह कैसा ज्ञान है?

'**सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।**' ऐसा होने पर जो ज्ञान है, वह कैसा ज्ञान है? '**मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च**' अर्थात् मति, श्रुत, अवधि ये विपरीत भी होते हैं – कुमति, कुश्रुत, कुअवधि मिथ्या होते हैं।

पं. टोडरमलजी ने लिखा है कि मतवाला यदि माता को माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है, वह तो कह गया जो कुछ कहना था, उसे होश नहीं है कि माँ कौन है और पत्नी कौन है? सत्-असत् का विवेक नहीं होने पर कुछ भी भान नहीं रहता है, विशेष यानि उसकी जाति अलग प्रकार की है। सत्-असत् का विशेष अर्थात् अन्तर नहीं समझने से उन्मत्तवत् यानि जो मन में आया सो माना, जो मन में आया वह सोचा, बोला – ये विपरीत बुद्धि है।

सत्-असत् का ज्ञान नहीं होने पर सम्यग्ज्ञान कैसे हुआ? ज्यादा पढ़े सो सम्यक् ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है, जिस ज्ञान में सत्-असत् का विवेक हो, उसे अपनी भाषा में यदि कहें तो जिस ज्ञान में आत्मा निजरूप से भासित होता है, शेष सब भिन्न

भासित होते हैं, उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखें तो उसे कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भाषित नहीं होते। जगत के होते हुये कार्य, स्वयं होते हुये भासित होते हैं। यदि अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य हो भी जाए तो उनमें वर्तने वाले तत्समय का योग-उपयोग को निमित्त कहा जा सकता है, उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वे कार्य भी ज्ञान में स्वतंत्रपने होते हुये भासित होते हैं।

यदि पण्डितजी अपने को दूसरों को समझाने का कर्त्ता मानें कि हमने समझाया, तो वह समझ गया तब समझ लेना '**सदसतोर-विशेषात्**'। अरे! उसकी समझने की योग्यता थी तो वह समझा है, उस समय का योग-उपयोग निमित्त हुआ है, 'हमने समझा दिया, हम समझा दें, हमने सुधार दिया; इसने बिगाड़ दिया।' अरे! मैं दूसरों के द्वारा समझाया जाऊँ अथवा मैं किसी को समझा दूँ, ऐसे विकल्प उन्मत्तवत् हैं, यह पागलपन है। कौन किसको समझावे, किसको समझाने से कौन समझे। हिन्दी में एक दोहा है -

कहें दोष कोइ न तजे, तजे अवस्था पाय।
जैसे बालक की दशा, तरुण भये मिट जाय।।

यह पद पंडित बनारसीदासजी ने लिखा है। वे भी नाना प्रकार के चक्करों में पड़ गये थे। सब लोगों ने खूब समझाया, लेकिन नहीं माने, जब उनकी काललब्धि आई और रूपचन्दजी पाण्डे आये तब उन्होंने यह दोहा लिखा था।

बच्चा जब बड़ा हो गया तब स्वयं समझ जाता है कि धूल में नहीं खेलना है। ये बाल चेष्टायें हैं। 'जैसे बालक की दशा

तरुण भये मिट जाय।' ऐसे ही अज्ञान के साथ में अज्ञानमय समस्त चेष्टाओं का अभाव होता है। चेष्टाओं का अर्थ केवल शारीरिक चेष्टाएँ नहीं लेना चाहिये। मानसिक चेष्टाएँ, विचार, वचन, चेष्टा तीनों को अन्तर्गर्भित समझना।

जब ध्यान की चर्चा आये तब समझना कि सत्य धर्म भी आत्मा के ध्यान से होता है। जब ध्यान शब्द आये तब पहले से समझ लेना चाहिये – श्रद्धान, ज्ञान, ध्यान। सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान पूर्वक ही सम्यग्ध्यान होता है। उसके बिना कहाँ से ध्यान होगा?

एकाग्र का अर्थ चाहे किसी भी विषय में एकाग्रता होना नहीं है। रमना का अर्थ कहीं भी रमना नहीं है। अपने स्वरूप में एकाग्र होना, अपने स्वरूप में रमना और जब तक स्वरूप का भान नहीं है, दृष्टि नहीं है, तब तक ध्यान कैसे होगा? तो सत्-दृष्टि धर्म का मूल है और मूल के बिना वृक्ष नहीं होता है। वृक्ष को हरे भरे रखने के लिये, वृक्ष के पुष्प पल्लवित करने के लिये, फलित करने के लिये मूल को सींचना चाहिये अर्थात् हमें अपने अभिप्राय को निर्मल बनाना चाहिये। श्रद्धान को सम्यक् बनाना चाहिये। समस्त तत्त्वविचार इस दृष्टि से करें।

जब हमारा श्रद्धान निर्मल होगा, इन्द्रिय सुख, सुख भासित नहीं होंगे, जब अपना सुख अपने में भासित हो जाएगा तब इन्द्रिय सुख के वशीभूत होकर जो पाप होते हैं, खोटे वचन, खोटे विचार, खोटी चेष्टाएँ होती हैं, वे सब अपने आप मिट जाती हैं; उन्हें अलग से नहीं मिटाना पड़ेगा और यदि मूल को नहीं सीचें, ऊपर-ऊपर के पत्ते सींचते रहें तो क्या होगा? संसार वृक्ष का अभाव कैसे होगा?

शास्त्रों में वृक्ष भी दो प्रकार के कहे हैं – एक धर्म वृक्ष और एक कर्म वृक्ष। आठ कर्म हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ हैं – ये कर्म वृक्ष है। धर्म वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है – क्षमा, मार्दव आदि इसकी शाखायें हैं।

इसीप्रकार दो वृक्ष हैं। एक पाप वृक्ष है, एक धर्म वृक्ष है। जो तुम्हें दुःखदायी लगते हैं, तुम्हें सुहाते नहीं हैं, वह सब पापरूपी वृक्ष के फल हैं और जो–जो तुम्हें सुखदाई लगते हैं, वे धर्मवृक्ष के फल हैं। यहाँ व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म का भेद नहीं किया। इस संसार में दो वृक्ष हैं, जो वृक्ष तुझे अच्छा लगता है, उसे सींच लो – ऐसी प्रेरणा की है।

नियमसारजी में बहुत सुन्दर कलश है – समस्त सुकृत (शुभ कर्म) भोगियों के भोग का मूल है। दुष्कृत, सुकृत, अकृत। अकृत यानि स्वाभाविक किसी के द्वारा कराया नहीं है, कृत्रिम परिणाम नहीं है। जो अकृत ज्ञानरूप परिणाम है, वह योगियों के योग का मूल है। समस्त सुकृत यानि पुण्य भोगियों के भोग का मूल है और जो दुष्कृत है वह रोगियों के रोग का मूल है। रोग शारीरिक हो या मानसिक अथवा संसार की उपाधिरूप रोग हो, सब उसमें गर्भित हैं।

सद्दृष्टि को धर्म का मूल समझना। जैसा सुना वैसा कह देना, उसमें सत्य धर्म नहीं होता। सत्य बोलने से पहले सत्य समझना आवश्यक है। सत्य धर्म की प्राप्ति के लिये सबसे पहले सत्य को समझना चाहिये। सत्य में स्वसत् और असत् को समझो! सत् में अपना स्वरूप, असत् यानि शेष जो बचा। असत् का शब्दार्थ है – जो सत् नहीं है, लेकिन यहाँ असत् का

अर्थ है भिन्न सत्, जो अपना सत् नहीं है। सत्-असत् का प्रयोग दो भिन्न द्रव्यों में भी कर सकते हैं। सत्-असत् का प्रयोग द्रव्य-पर्याय में भी कर सकते हैं। द्रव्य स्वभाव जो आश्रय करने योग्य है इसे सत् कहते हैं और परिणाम को असत् कह सकते हैं। असत् दृष्टि में पर्याय दृष्टि आ गई, संयोग दृष्टि आ गई, निमित्त दृष्टि भी आ गई, कर्तृत्व बुद्धि आदि सब उसमें गर्भित हो गयी।

जो सदुपयोग-दुरुपयोग शब्द बोले जाते हैं, उनका अर्थ भी सत् में लगाना। आप अपने जीवन का सदुपयोग करें। जब तक आप उपयोग का सदुपयोग नहीं करेंगे तब तक आप अपने जीवन का सदुपयोग कैसे कर पाएँगे? ज्ञान का विषय सत् को बनायें, अपने को सत् रूप जानें - यह पहली बात है। जब आप अपने को सत् रूप जानेंगे अर्थात् स्वयं को त्रिकाल ध्रुव स्वरूप अनुभवेंगे, क्षणिक पर्यायरूप नहीं देखेंगे तब आपके ज्ञान का सदुपयोग होगा और ज्ञान जब तक अपने सत् स्वरूप से विमुख होकर क्षणिक पर्याय में उलझा है, क्षणिक भोगों में और दुनिया के कर्तृत्व के बोझ में लगा है, तब तक ज्ञान का दुरुपयोग है। जो समय आत्म आराधना में लगाना था, वह समय तुम्हारा विकथा में जा रहा है, प्रमाद में जा रहा है। विषय-कषाय के पोषण में जो समय जा रहा है, वह समय का दुरुपयोग है।

पुण्य के उदय में धन सामग्री मिली, यदि आप उसका त्याग करके अपने स्वरूप की आराधना में लग जाएँ तो धन्य भाग्य है। उत्तम कार्य तो यही है और यदि नहीं लग पाए तो यह धन वीतराग धर्म की प्रभावना में लगता है, आत्म आराधना में

लगता है, आप उधर से निश्चिन्त होकर अपनी आराधना में लगते हैं तो वह धन का सदुपयोग है। यदि आप कषाय के पोषण के लिये विवेक रहित होकर धन खर्च करते हैं तो वह धन का दुरुपयोग है। आप अपना जीवन विषय-कषायों में अविवेक से खर्च कर रहे हैं, बर्बाद कर रहे हैं, यह जीवन का दुरुपयोग है।

आप अपना ज्ञान तत्त्व निर्णय में, तत्त्वविचार में नहीं लगाते हैं, विषयों से विरक्त कैसे हों? स्वरूप में हम सावधान कैसे हों? यह बात नहीं सोचते, बस यही सोचते रहते हैं कि पैसा कैसे बढ़े, नाम प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त हो, शरीर स्वस्थ कैसे रहे, यदि इनमें ज्ञान लगाते हैं तो यह है ज्ञान का दुरूपयोग! दु और कु उपसर्ग खोटे अर्थ में होते हैं। जैसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, कुधर्म - विनय पाठ में कुटेव शब्द का प्रयोग भी हुआ है। सबके साथ लगा है राग! **'मेटो राग कुटेव'** - यह आप जो राग का, विषय-कषाय का पोषण करते हैं, वह दुरुपयोग है।

आपने बहुत शास्त्र पढ़े और धारणा ज्ञान बहुत अच्छा है, अच्छा नहीं ज्यादा है! अच्छा हम नहीं मानते, लोग कहते हैं, इनका ज्ञान बहुत अच्छा है। हम कहते हैं कि अच्छा तो हम तब मानें जब यह ज्ञान आत्माराधना में लग जाए! कुतर्क देकर तत्त्व का खण्डन करता रहे, अपनी कषाय का, पक्ष का पोषण करता रहे, वह काहे का अच्छा है?

लोग कहते हैं कि यह भोजन बहुत अच्छा है! अच्छा आपने क्या समझ लिया है? यह भोजन यदि स्वास्थ्य, संयम बिगाड़ता है, हिंसा, अहिंसा का कुछ विवेक नहीं, फालतू पैसा खर्च होता

हो, वह कैसा अच्छा? अच्छा तो वह है जो हमारे संयम में सहायक हो। जिसके कमाने में हिंसा नहीं हो, बनाने में हिंसा नहीं हो। भोजन की विधि बताई थी, भोजन कैसा होना चाहिए? पहला - न्याय पूर्वक कमाया गया हो, दूसरा - यत्नाचार और विवेक पूर्वक बनाया गया हो, तीसरा - वात्सल्य पूर्वक खिलाया गया हो, चौथा - अनासक्तता पूर्वक खाया गया हो, वह भोजन संयम में निमित्त होता है, उसे शुद्ध भोजन कहते हैं। शुद्ध भोजन का अर्थ है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धता। उसका उद्देश्य भी तो शुद्ध हो! तब ही तो चौका कहेंगे। चार के समूह को ही चौका कहेंगे, चार कषायों के समूह को ही चौकड़ी कहेंगे अथवा चार के समूह को ही चतुष्टय कहते हैं।

भरतेश वैभव में आया है, भरत महाराज मुनिराज के अंजुलि में ग्रास रख रहे हैं और देखो उन मुनीश्वर को शोधे हुये भोजन को फिर शोध रहे हैं। लोगों को तो ऐसा लगे कि ये बड़े बहमी हैं, किसी पर इन्हें भरोसा नहीं है, बाई ने शोध कर बनाया, उसने भी शोध कर दिया, भरतजी भी शोध कर रख रहे हैं फिर भी वे शोध रहे हैं। अरे भाई! तुमने अपना काम किया, हमने अपना काम किया, इसमें क्या परेशानी है? यह इन्द्रिय संयम है, तो मुनिराज ने शोधा! आपको लगा केवल आहार को शोधा है, लेकिन कुछ और भी शोधा है, यह आहार पौद्गलिक है, इसे पौद्गलिक शरीर को अर्पित कर देते हैं और स्वयं ज्ञानमय आहार को ग्रहण करते हैं। गृद्धता नहीं है, आसक्ति कहाँ से आयेगी बताओ? प्रीति, रुचि, आत्मा में है - लक्ष्य और भावना यही है कि अनाहारी दशा साध्य है, अपना अनाहारी स्वरूप

ध्येय है। ऐसे इन योगीश्वरों को आसक्ति कहाँ से होगी? आहार ग्रहण करते हुए भी कहते हैं कि - हम साक्षात् अनाहारी हैं।

सत् दृष्टि पूर्वक, सद् ज्ञान पूर्वक जो कषायों से रहित साम्य-भावरूप परिणति है, जिसमें खोटे विचार नहीं हैं, वह सत्य धर्म है। यदि खोटे विचार आते हैं तो आप स्वयं से पूछें कि इन खोटे विचार करने का आपको अधिकार क्या है? आप विपरीत विचारों पर अंकुश लगाना सीखो! तब विपरीत वचन और विपरीत चेष्टाएँ अपने आप रुक जाएँगी।

दर्शन स्तुति '**अति पुण्य उदय**' में ऐसी एक लाईन आई है - '**मन दोष वादन तें भगे**' अर्थात् हम किसी के दोष न कहें। दोषों का कथन वचन से होता है या मन से होता है! लिखा तो है कि वादन अर्थात् वचन से। आप दोषों का विचार करते रहें, कहें कुछ भी नहीं, लेकिन प्रसंग पड़ने पर वे निकल ही जाते हैं, इसलिये उनका विचार करो ही नहीं, मन पर ही अंकुश लगाओ। खोटे विचार रोकने का उपाय क्या है? ये दुःख के कारण हैं, ये खोटे हैं, धर्मनिंद्य हैं, इनका फल भव-भव में दुःखदाई है - ऐसा विचार करने से खोटे विचारों में थोड़ी मन्दता आती है, लेकिन जब तक सम्यक् विचार नहीं करोगे तब खोटे विचार अपने आप आ जाएँगे, बुलाने नहीं पड़ेंगे।

सत्-असत् का विवेक होने पर स्व-पर का सम्यक् श्रद्धान होने पर, पहले जो पर के लक्ष्य से कषाय की, राग-द्वेष की परिणति होती थी, आकुलता उत्पन्न होती थी, उसका अभाव होकर जो साम्य भाव हुआ उसका नाम ही सत्य धर्म है। इसी का नाम शौच धर्म है। इसी को सत्य धर्म क्यों कह रहे हैं?

इसमें असत्यपना नहीं है, मिथ्यापना नहीं है विपरीतता नहीं है। जैसा स्वभाव है वैसा ही है यह परिणाम! इसलिये इसका नाम सत्य धर्म है।

ऐसा सत्य धर्म प्रगट होने में किसके वचन निमित्त होते हैं, ऐसा सत्य धर्म प्रगट होने पर कैसे वचन निकलते हैं? जिसके अन्तर में कषायों का जहर भरा है, जिन्हें वस्तु स्वरूप का भान नहीं है, विपरीत मान्यता है, उनके वचन ही कषाय गर्भित, असत्य वचन निकलते हैं और जब सम्यक् श्रद्धान हुआ, सम्यक् ज्ञान हुआ, उनके वचन कैसे निकलेंगे? छहढाला में से जानो –

जग सुहितकर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख चन्द्र तैं अमृत झरैं।।'

जिनके अन्दर अमृत है, तो अमृत निकलेगा, कपूर की शीशी खोलोगे तो उसमें से कपूर की गन्ध निकलेगी, हींग की शीशी खोलोगे तो हींग की गन्ध ही निकलेगी! जिसके अन्तर में अमृत है, जो यह समझते हैं कि 'मैं तो अजर, अमर तत्त्व हूँ' अरे भाई! क्यों घबड़ाते हो तुम तो अजर, अमर तत्त्व हो ऐसे वचन निकलेंगे और जो अपने को शरीररूप मान रहा है वह तो रोएगा, वचन कैसे निकलेंगे? लेकिन वचन आप बोल सकते हो क्या? वचन का, शरीर की चेष्टा का और परिणामों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जो वीतराग सर्वज्ञ हैं, उनकी निरक्षरी दिव्य-ध्वनि में समस्त वस्तुस्वरूप अपने आप प्रकाशित हो जाता है।

नियमसारजी में कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं – **'रे साधिये निज कार्य अविरल, साधु रत रह मौन में।'** तुम मौन रहकर अपनी आत्मा का हित साधो, अपनी आत्मा का अनुभवन करो!

दुनिया की उलझनों में वाद-विवाद में कोई दम नहीं है, वह तो अहित करने वाला है। रे साधु! तुमने किसलिये यह जिनशासन पाया है, किसलिये यह घर छोड़ा है, किसलिये इस मार्ग में निकले हो? दुनिया की बातों में मत आना।

पण्डितजी से पूछो कि यह क्या है? तो वह कहेंगे पुद्गल, और गहराई से सोचो तो पर है। जो आपके ज्ञान में, विचार में आया है, वही तो वचन में निकलेगा! यह क्या है? घर है, यह क्या है? कारागृह है। **'तन कारागृह, वनिता बेड़ी।'** यह क्या है? परिग्रह। वस्तु तो जैसी है वैसी है, आप वैसा बोलोगे जैसी आपको जचेगी। यह क्या है?

आपने दृष्टान्त पढ़ा होगा! पति और पत्नी जा रहे थे। आर्थिक परिस्थिति कमजोर थी, सोचा दूसरे गाँव में धन्धा करेंगे। पति आगे, पत्नी पीछे आ रही थी। ठोकर लगी। एकदम उसमें से मोहरों से भरा कलश निकल पड़ा, पति उस पर बैठ गया, उसके ऊपर धूल डालने लगा; पीछे से पत्नी आई, पूछा क्यों क्या कर रहे हो? कुछ नहीं, कुछ नहीं! बताओ तब चलेंगे। सही बात यह है कि इसमें से कलश निकला, मोहरों से भरा है हमने सोचा कहीं तुम्हारी नीयत न डिग जाए, कहीं एकाध उठा न लो, अपनी परिस्थिति वैसे ही खराब है, पाप का उदय तो है ही, पाप का परिणाम, चोरी का परिणाम नहीं आ जाए, इसलिये इस पर धूल डाल रहे हैं। पत्नी बोली धूल पर धूल डाल रहे हो। तुम्हें ये मोहरें दिख क्यों रही हैं! विचार करो, जब मोहरें दिख रही हैं तो मोहरें ही कही जाती हैं और जब धूल दिखती है तब धूल कही जाती है। उन्हें खेह का खजाना दिखा तो उन्होंने उसे

खेह का खजाना कह दिया, तुम्हें सम्पदा दिखी तो तुमने सम्पदा कह दी!

वचन जो होते हैं, उनका परिणामों के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिनके अन्तर में अमृत झर रहा है, उनके वचनों में भी अमृत झरता है, तत्त्व की प्ररूपणा होती है और जिनको सत् असत् का विवेक ही नहीं है, विषयों में सुख की मान्यता पड़ी है, खूब पढ़ते हैं सुनते हैं। प्रसंगानुसार सच्ची बातें बनाते हैं, लेकिन कोई भोग–संयोग सम्बन्धी बात आ जाए तो ऐसी आँख फट जाती है; दिखाना–दिखाना बहुत अच्छा! अच्छा लगता है तो मुँह से अच्छा निकलता है।

अगर उदासीनता के धारक योगीश्वरों से पूछा भी जाए कि महाराज यह कैसी है? तो वे कहेंगे जैसी है, वैसी है, हम क्या कहें! भिन्न सत् है। उनके श्रीमुख से क्या निकला! विश्व में कोई खरा नहीं, कोई बुरा नहीं।

सत्य धर्म का और सत्य वचन का ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। सत्य वचनों से सत्य धर्म पहिचाना जाता है, समझा जाता है, इसलिये सत्य धर्म तो पूज्य है ही, सत्य वचन भी पूज्य कहे गये हैं, जिनवाणी, दिव्यध्वनि, ये सत्य वचन ही तो हैं न! निर्दोष पुरुष के वचन स्वानुभूत प्रसूत होते हैं। उनके वचन सत्य धर्म की प्राप्ति में, तत्त्व की प्राप्ति में, रत्नत्रय की प्राप्ति में निमित्तभूत होते हैं, इसलिये सत्य वचन को भी सत्य धर्म के अन्तर्गत गर्भित किया गया है।

सत्य वचनों के द्वारा सत्य धर्म समझा जाता है और जिन्होंने सत्य धर्म प्रगट किया है, उनके वचनों में ही सत्य धर्म की

प्ररूपणा होती है। आदान-प्रदान तो वचनों से ही होता है न! लेकिन हम पढ़कर या सुनकर वैसा कहना सीख जाएँ तो उसे सत्य धर्म नहीं माना जा सकता। देखा-देखी हम भी कहने लगे, सुख तो निवृत्ति में है! 'तो आ जाओ! अब कब निवृत्ति लोगे?' लेकिन सच पूछो तो निवृत्ति बाहर से लेने की वस्तु नहीं है।

अमृतचन्द्रस्वामी पुरुषार्थसिद्धिउपाय में, निवृत्ति के साथ तत्त्व शब्द का भी प्रयोग किया है 'तत्त्वं निवृत्ति रूपम्' अरे! तत्त्व निवृत्ति स्वरूप ही है! तत्त्व दृष्टि हो तो निवृत्ति सच्ची होती है और निवृत्ति हो तो तत्त्व की भावना बढ़ती है।

बाहर की निवृत्ति अंतरंग तत्त्व की भावना एवं प्राप्ति के लिए है। निवृत्ति दुनिया में मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये नहीं है, पुण्य प्राप्त करने के लिये नहीं है, तत्त्व की साधना के लिये है और तत्त्वाराधना करने पर ही निवृत्ति सफल होती है, नहीं तो खाली-खाली लगेगा। अब क्या करें? **यदि मति व्यवस्थित नहीं होगी तो व्यवस्थाएँ ढूँढ़ते फिरेंगे। व्यवस्थाओं के मोह से, विषयों की चाह से पाप बंध होगा तो व्यवस्थाएँ भी दूर होती चली जाएँगी और जीवन भर हम उसी में उलझे रहेंगे। भाई! व्यवस्थाएँ मत ढूँढ़ो! मति को व्यवस्थित करो! तत्त्व की आराधना में अपनी परिणति को समर्पित करो!**

समयसार की 49वीं गाथा की टीका में बहुत सुन्दर चर्चा आई है - वह टंकोत्कीर्ण आत्मा कैसा है? जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को समर्पित किया है। क्यों समर्पित किया है? आप अपनी चाबी किसको सौंपेंगे! **भेदज्ञानी जीवों ने अपना सर्वस्व शुद्धात्मा को सौंपा है, तब शुद्धात्मा का सर्वस्व**

भेदज्ञानी जीवों को मिलता है। जैसे - जो कन्या अपना सर्वस्व राजा को सौंपती है तो राजा का पूरा अधिकार उस कन्या को मिलता है। शिष्य अपना सर्वस्व गुरु को सौंपता है तो गुरु का सर्वस्व शिष्य को प्राप्त होता है।

भेदज्ञानी जीवों को जिसने सर्वस्व सौंप दिया है, क्यों सौंप दिया है? क्योंकि भेदज्ञानी जीवों ने अपना सर्वस्व आत्मा को सौंप दिया है। हम बाल बच्चों से बहुत बार कहते हैं कि चाबी खींचने की कोशिश मत करो, इस लायक बनो कि चाबी तुम्हें सौंप दी जाए, पिताजी कहें कि लो बेटा सम्भालो और बेटा कहे कि पिताजी इसे आप अपने पास रखो। अभी आप हैं, आपके सामने अभी हम नहीं। यह लोक व्यवहार की बात है।

एक होता है पारमार्थिक सत्य, एक होता है व्यावहारिक सत्य। व्यावहारिक सत्य भी अनेक प्रकार के होते हैं। ये व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक सत्य नहीं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों पर जो चर्चा आई वह व्यावहारिक सत्य है। लोक व्यवहार में जो चर्चा आती है, वो स्वयं स्वाध्याय में पढ़ना!

स्वाध्याय का पहला चरण है वाचना! लेकिन क्या करें हमारी दशा उस बाई की तरह है जो अपने लिये रोटी बनाने में तो आलस करती है और दूसरों के लिये दस प्रकार के व्यंजन बनाती है। **ऐसे ही यदि हमें सुनाना हो तो पढ़कर आएँगे और सुनना हो तो बिना पढ़े बैठ जाएँगे। दूसरों को सुनाने के लिये हम रातभर तैयारी करते हैं और सुनने के लिये आलसी हैं।**

वाचना आपका कर्त्तव्य है और नहीं समझ में आये तो पूछना आपका अधिकार है। पूछने की भी एक विधि है, यदि कुछ

पूछना हो तो अति विनयवान होकर पूछता है! गुरुओं के कहे अर्थ पर बारम्बार विचार करना! **पहले कर्त्तव्य है फिर अधिकार है। कर्त्तव्य की झोली में अधिकार है। यदि वाचते नहीं हैं तो आपके पूछने का अधिकार नहीं है। वाचना, पूछना, अनुप्रेक्षा फिर आम्नाय का क्रम है।**

आम्नाय का अर्थ होता है मिलाना। कुन्दकुन्द आम्नाय है न! जो हमने समझा है उसे आगम से प्रमाण करना। अन्त में स्वानुभव से प्रमाण करना। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा है। फिर उसे धारणा में लेना, क्योंकि ये बातें भूलने लायक नहीं हैं। किसी का घर भूल जाने से कोई हानि नहीं है, लेकिन अपना घर यदि भूल गये तो कहाँ भटकोगे? चार गति चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हैं। तत्त्व की भूल होने के फल में यह भटकन हो रही है। यह धारणा ज्ञान तो पर्याय के साथ विनश जाएगा और ये पुण्य भाव, इसमें कोई दम नहीं है। उदयाधीन है, बदलते रहते हैं, अध्रुव हैं। भाई! अपना स्वरूप समझो!

जब आम्नाय नाम का स्वाध्याय हो गया तब आप धर्मोपदेश के अधिकारी हुए। सत्य स्वरूप को समझने पर ऐसा करुणा भाव आता है कि जगत के सब जीव इस मार्ग को समझें। करुणा भाव से निस्पृह भाव से, विनय भाव से, सहज भाव से, दातार के सात गुणों से युक्त होकर ज्ञानदान देना वह धर्मोपदेश है। पण्डिताई के लिये, अभिमान के लिये सम्मान के लिये, प्रदर्शन के लिये, रौब के लिये, कुछ भी कह देना, वह धर्मोपदेश नहीं है।

तत्त्व का स्वरूप करुणा भाव से जगत के जीवों को बताने

का भाव आता है। इधर से कहा तो करुणा भाव, उधर से कहें तो निस्पृह भाव। बदले में कोई अपेक्षा नहीं, वह धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है। ऐसा सत्य वचन कहलाता है। लौकिक सत्य अलग है, पारलौकिक सत्य अलग है, पारलौकिक सत्य में भी व्यवहार सत्य अलग है और पारमार्थिक सत्य अलग है। एक आत्मा को समझने के लिये है। जिसकी जिस जगह पर उपयोगिता है, वहाँ वैसा समझ लेना चाहिये।

'**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**' उसी का नाम सत्य धर्म है, उसमें वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा माना है। सत् को सत् मानना। सत् को असत् नहीं मानना। विद्यमान को अविद्यमान नहीं मानना। अविद्यमान को विद्यमान नहीं मानना। अन्यथा नहीं मानना। गर्हित वयन नहीं बोलना। '**पर-वधकार कठोर निंद्य, नहिं वयन उचारै। पर-वधकार कठोर निंद्य, नहिं भाव विचारै।**' जैसा स्वरूप है वैसा समझना और वैसा समझ करके राग-द्वेष की निवृत्ति होना वह सत्य धर्म है।

राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर जो सत्य वचन निकले वह उपचार से सत्य धर्म है। सत्य वचन से सत्य धर्म समझा जाता है। सत्य धर्म प्रगट होने में वे बाह्य निमित्त हैं। सत्य धर्म प्रगट होने पर सहज प्रवृत्ति ज्ञानी के जीवन में होती है। वचनों की सावधानी के लिये कहा कि जिन्होंने अपने वचन बिगाड़े उन्होंने यह समझो अपना भव ही बिगाड़ लिया। हमारे वचनों की प्रामाणिकता होनी चाहिये। कई बार हम कुछ भी कह देते हैं लेकिन जिससे कहा है वह भी आदमी है।

ज्ञानी की बातों का अनादर करना वह भगवान का अनादर

है क्योंकि उनके वचनों से धर्म तीर्थ प्रवर्तता है, उनके वचनों का आदर करने से, उनके वचनों का श्रवण करने से, उनके वचनों का निर्णय करने से, श्रद्धान करने से, धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है। वचनों से ही तो धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

जिनेन्द्र भगवान के वचनों का अनादर करने से अर्थात् सुनी-अनसुनी करने से संसार की प्रवृत्ति होती है। जो जिन-वचनों को नहीं सुनते हैं, निर्धार नहीं करते, उपेक्षा करते हैं, ऐसे अधर्म परिणामों से पाप की प्रवृत्ति होती है, दुःख की प्रवृत्ति होती है। धर्म वचनों से तीर्थ की प्रवृत्ति होती है। धर्म वचनों से तीर्थ की प्रवृत्ति और कुवचनों से कुतीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

वचन की प्रमाणता से पुरुष की प्रामाणिकता होती है और पुरुष की प्रमाणता से ही वचन की प्रामाणिकता होती है। यह न्याय शास्त्र का वाक्य है। तात्पर्य यह है कि सत्य धर्म और सत्य वचन के स्वरूप को भलीप्रकार समझकर सत्यधर्म को प्रकट करने के लिये जीवन में निरन्तर पुरुषार्थ रहना चाहिये। हमें सत्यग्राही भी बनना है और सत्याग्रही भी बनना है, दुराग्रही नहीं, हठाग्रही नहीं, सत्याग्रही रहना है। सत्याग्रह का अर्थ है - सत्य पर दृढ़ रहना। सत्य का पक्ष निडर होकर करना चाहिये। सत्य की प्ररूपणा निर्भय रहकर करना चाहिये। सत्य को समझते समय कोई प्रकार का भय नहीं रखना चाहिये। सत्य केवल वचनों तक नहीं, सत्य तो वस्तु का स्वरूप ही समझो। विचारना!

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्म स्वरूप।

❖❖❖

उत्तम संयम धर्म

पण्डित टेकचन्द्रजी ने दशलक्षणधर्म के विधान की पूजन में लिखा है –

संयम जग का बन्धु है, संयम मात और तात।
संयम भव-भव शरण है, नमो टेक अघजात।।

अहिंसा के सम्बन्ध में आपने पढ़ा होगा – '**अहिंसा परमो धर्मः**' अहिंसा रक्षा करने के लिये माता के समान है। जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है। अनेकों अवगुण करने के बाद भी अपने पुत्र को बचाती है। **ऐसे ही जो अहिंसक पुरुष हैं, वे सामने वाले जीवों का अपराध होने पर भी उनकी रक्षा ही करते हैं।** प्रथमानुयोग में आपने पढ़ा होगा, वे महायोगीश्वर अपने ऊपर उपसर्ग करने वालों के प्रति भी कैसा क्षमा का भाव रखते हैं, उन्हें आशीर्वचन कहते हैं। यशोधर मुनिराज ने श्रेणिक को मात्र क्षमा ही नहीं किया, अपितु आशीर्वाद भी दिया।

आत्मानुशासन शास्त्र में लिखा है कि – धर्म का ऐसा प्रभाव है कि जिसके हृदय में ज्ञान और धर्म है, वह अपने ऊपर उपसर्ग होने पर भी उपसर्ग करने वाले के प्रति अपकार का भाव नहीं, उपकार का भाव रखते हैं और धर्म ज्ञान से शून्य जीव क्षुद्र स्वार्थों के वश होकर पुत्र, पिता का राज्य के लिये हनन कर दे, पैसे के लिये स्त्री पति का, माता पुत्र का, भाई-भाई का हनन कर देते हैं, पड़ोसी-पड़ोसी की बात तो बहुत दूर है।

इस विश्व में जीव का रक्षक एक धर्म ही है और दूसरे जो रक्षा करते देखे जाते हैं वे भी कोई धर्म बुद्धि वाले ही होते हैं।

आपके ऊपर यदि कोई आपत्ति है तो आपका रक्षक कौन होगा? चाहे वे कोई देवों में हों! चाहे मनुष्यों में हों! धर्मात्मा जीव तिर्यञ्चों का उपकार करते देखे जाते हैं। उस तड़फते हुये कुत्ते को भी जीवन्धर कुमार ने णमोकार मंत्र सुनाया। बहुत से लोग निकलते चले गये होंगे, उन्होंने नहीं सुनाया।

मोही प्राणी यदि अपने शरीर की इच्छा के अनुकूल नहीं हो, बाधक हो तो उन्हें अपने शत्रु मानते हैं। धर्मात्मा जीव विषय-कषाय के परिणाम, मिथ्यात्व के परिणाम को शत्रु मानते हैं। एक बात और है वे उन्हें शत्रु तो जानते हैं लेकिन द्वेष बुद्धि वाली बात नहीं हैं, जैसे शत्रु के प्रति प्रीति नहीं होती, वैसे ही उन्हें विषय-कषाय के प्रति प्रीति नहीं होती। वे उनसे बचते हैं, दूर रहते हैं।

भरत महाराज ने कैसी परीक्षा ली? जो लोग घास को रौंदते नहीं आये, दलदल में भी नहीं आये, बाहर खड़े रह गये। पहले तो भरतजी ने झूठा रौब दिखाया। क्यों भाई! आप लोग बाहर क्यों खड़े हो। आप लोग कोई विशेष हो। महाराज! हम आपकी आज्ञा का पालन करेंगे, परन्तु हम घास को रौंदते हुये कैसे आयें? **धर्मात्मा वे हैं जो अपने को आत्मा समझें और सब जीवों को भी आत्मा समझें।** किसी भी जीव की विराधना नहीं हो जाए, ऐसा ध्यान रखते हैं।

छहढाला में भी कहा है – **'त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न सँहारै।'** धर्म बुद्धि वाले को सामने वाले को दण्ड देने का भाव नहीं होता। हमारे भी कर्म का उदय है, उसके भी कर्म का उदय है। क्या करें? कर्म-नोकर्म के परिणाम हैं, उसने नहीं

किया। इन परिणामों के कारण हम जीव की विराधना कैसे करें? धर्म ही जीव का रक्षक है। अहिंसा ही जीव की माता है, माता के समान रक्षा करती है।

परमार्थ अहिंसा से ही अपनी रक्षा होती है, अपने आत्मीक गुणों का विकास होता है। आत्मीक गुणों का घात करने वाले दोषों का अभाव होता है। उसी का नाम तो अहिंसा या परमार्थ अहिंसा है। मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना वह अहिंसा है, वह अपनी रक्षा करने वाली है और जब धर्म बुद्धि होती है तब जीव के ऐसे भाव रहते हैं कि हमसे कोई ऐसे वचन या चेष्टा नहीं बन जाए, हमारे मन में भी किसी का बुरा करने के भाव न आ जाएँ, विराधना का भाव न आ जाए। यदि कर्म का तीव्र उदय आ भी जाए तो वे उसका प्रायश्चित करते हैं। अरे रे! ये कैसे भाव हो गये? शब्द बदल जाते हैं।

संयम को धर्म का रक्षक कहा, बन्धु कहा, संयम ही तो धर्म है, उसे धर्म का लक्षण भी कहा है। संयम जग का बन्धु है, उल्टा करें तो असंयम जग का शत्रु है। असंयम से जीव दुःखी होता है। जैसे सम्यग्दर्शन से जीव सुखी होता है, मिथ्यादर्शन से दुःखी होता है, ऐसे ही असंयम से जीव दुःखी होता है और संयम से सुखी होता है।

पार्श्वपुराण में चर्चा आई है। देवियों और माता के संवाद हैं। देवियाँ वामा माता से प्रश्न करती हैं - हे माता! शत्रु कौन है? उत्तर आया जो धर्म में विघ्न करता है, दीक्षा लेने में, संयम पालन में विघ्न करता है, वह शत्रु है। मित्र कौन है? जो धर्म में लगाता है, प्रोत्साहित करता है, वह मित्र है। वरांग चरित्र में

वरांग कुमार को जब वैराग्य हुआ तब वे अपने पिता से बोले – हे तात्! जैसे कोई बड़े सागर को तैरकर किनारे आ गया हो और कोई उसको फिर से समुद्र में पटक दे तो वह महाशत्रु है या नहीं? ऐसे ही आप हमें भोगों की प्रेरणा करके बीच समुद्र में मत पटको। शत्रु का कार्य मत करो। जैसे कोई शुद्ध स्वादिष्ट, उत्तम मिष्ठान्न, भोजन करने जा रहा हो और कोई उसमें जहर मिला देवे तो वह शत्रु है या नहीं? ऐसे ही हम शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिये दीक्षा लेने जा रहे हैं और आप हमें विषयों में लगाकर शत्रु का काम मत करो। जैसे कोई दावाग्नि में से जंगल से निकल कर आया हो और कोई फिर उसे दावाग्नि में पटक दे! ऐसे ही हम विषयों की चाहरूपी दावाग्नि से निकल कर आये हैं। हे तात्! आप हमें विषयों में फँसाने की प्रेरणा नहीं करें।

जिनवाणी को माता कहते हैं, लोकोत्तर माता, लौकिक माता से भी अधिक है। लौकिक माता जन्म देती हैं, कपड़े पहनाती हैं, विवाह आदि कराकर संसार में फँसाती हैं और यह माता तो जगाती है, विषयों से बचाती है, जन्म-मरण का अभाव कराती है। अलौकिक माता, लौकिक माता से भी बहुत अधिक है। लौकिक में माता से बड़ा कोई पद नहीं है, इसलिये जिनवाणी को माता कहा है। जैसे पिता के अभाव में कोई माता की उपेक्षा करे, अवज्ञा करे तो वह पुत्र भटकेगा। ऐसे ही आज हमारे परम पिता भगवान साक्षात् नहीं हैं, जिनवाणी माँ हैं अगर हम इनका स्वाध्याय नहीं करेंगे अथवा विचार नहीं करेंगे तो क्या होगा? कोई कहे कि 'शास्त्र में लिखी बातें तो चौथे काल की हैं। शास्त्र में तो जाने क्या-क्या लिखा है? शास्त्रों के अनुसार तो

पैर रखने की भी जगह नहीं है तब क्या खायेंगे, क्या करेंगे?' अरे भाई! संसार में भटकेगा। संयम जग का बन्धु है, असंयम जग का शत्रु है।

एक परम्परा है कि जब कोई दीक्षा लेता है तो नाम परिवर्तन करते हैं, कुल भी परिवर्तित हो जाता है, वह आचार्य के कुल का हो जाता है। उसको द्विज कहते हैं, दूसरा जन्म! शरीर का जन्म तो माता के गर्भ से हुआ है और यह जन्म तो संयम से हुआ है। **जिस दिन हमने संयम धारण किया वह हमारा जन्म दिन है।**

एक भाई आये, इस लड़के को समझा दो, यह शादी नहीं कर रहा! यह ब्रह्मचर्य लेने की कह रहा है। हमने कहा ठीक ही तो कह रहा है। समझने की जरूरत तुम्हें है, इसे क्या समझावें! वे बोले – अभी से, हमने कहा – फिर कब से, आप बता दो! तुम धारण कर लो, तुम करोगे नहीं और इसे रोकोगे। बच्चों का पालन-पोषण क्या केवल खिलाना-पिलाना, मालिश कर देना, चाहे जैसे कपड़े पहना देना है, यह कोई पालन-पोषण है। धर्म के संस्कार, तत्त्वज्ञान के संस्कार दें कि – तू जीव है, देह से भिन्न है, रागादिक दुःख के कारण हैं, भेदज्ञान से जीव सुखी होता है, सम्यग्दर्शन के संस्कार, ज्ञान के संस्कार से जीव सुखी होता है। अहिंसा, सत्य, शौच के संस्कार। ये संस्कार जीवन में आना चाहिये! बेटा ईमानदार रहना, सत्य को नहीं छोड़ना!

अहिंसा धर्म है और सत्य उसका आधार है मूलाचार में आया है कि सत्य के आधार बिना अहिंसा नहीं पलेगी। संयम अपना भी बन्धु है और जगत का भी बन्धु है। सबकी रक्षा

संयम करता हैं। असंयम के परिणाम से अपना अहित होता है और असंयमरूप वचन से, असंयमरूप प्रवृत्ति से न जाने कितने जीवों का घात होता है। अनर्गल विसंवाद से न जाने कितने लड़ाई झगड़े होते हैं। अयत्नाचार प्रवृत्ति और पंच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति, भक्ष्य-अभक्ष्य की प्रवृत्ति, कोई विवेक नहीं, असंयम से अनन्त जीवों का घात होता है। संयम जग का बन्धु है। जीवों की रक्षा करने के लिये यदि आपकी भावना जगती है तो संयम धारण करना अनिवार्य है।

समन्तभद्र स्वामी ने लिखा - अहिंसा परम ब्रह्म है और वह अहिंसा पूर्णता की अपेक्षा उस आश्रम में होती है जहाँ लेश मात्र भी परिग्रह नहीं है। श्रावकों को तो संकल्पी हिंसा मात्र छूटती है, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा श्रावक दशा में नहीं छूट पाती। निर्ग्रन्थ अवस्था में ही अहिंसा की पूर्णता होती है। अहिंसा की पूर्णता के लिये जिसने दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ दिया है और विकृत वेष को छोड़ दिया है, उन्हें ही पूर्णता प्राप्त होती है। वह विकृत वेष है कभी कुछ पहिने, कभी कुछ! यथाजात मुद्रा ही स्वाभाविक वेष है।

आपको यह पहले समझ में आना चाहिये कि संयम से जीव सुखी होता है, संयम से जीव का हित होता है, भोगों से सुख नहीं होगा। चार दिन भोगों में प्रवृत्ति कर ली तो क्या होगा? भोगों से निर्वाह होने वाला नहीं है। ये भोग आत्मा के सुख को दीमक बनकर खा जाते हैं। जैसे माता जन्म देती हैं, पोषण करती हैं, अच्छी शिक्षा देती हैं, अच्छे मार्ग में लगाती हैं, ऐसे ही यह संयम है।

पण्डित टोडरमलजी ने एक पंक्ति वक्ता के स्वरूप में लिखी है, जिन्हें अपना हित करना हो, उन्हें निर्ग्रन्थ गुरु के निकट उपदेश सुनना चाहिये। यदि उनका योग नहीं बने तो उन्हीं के उपदेश को कहने वाले श्रद्धानी श्रावक के मुख से शास्त्र सुनना। केवल सुनने के लोभ से चाहे किसी से, चाहे जैसा, चाहे जब, चाहे जहाँ नहीं सुनना। इस शरीर के रोग का इलाज भी चाहे किसी से, चाहे जब, चाहे जहाँ नहीं कराते। आँख का इलाज भी अच्छे डॉक्टर से कराते हैं और भीतर की दृष्टि खोलनी हो तो निर्ग्रन्थ गुरु या ज्ञानी श्रावक जैसा डॉक्टर होना चाहिए।

दृष्टि अपेक्षा निर्ग्रन्थ सम्यग्दर्शन, आचरण अपेक्षा निर्ग्रन्थ मुनिराज! श्रावक भी एकदेश निर्ग्रन्थ हैं, उन्हें श्रमणोपासक भक्त कहा गया है। श्रावक माने श्रद्धावान, विवेकवान, क्रियावान, उन्हीं के उपदेश को कहने वाले श्रद्धानी श्रावक के मुख से शास्त्र सुनना। जो स्वयं स्वच्छन्द हो वह दूसरों को कैसे मार्ग पर लगायेगा? जो स्वयं अज्ञानी हो वह कैसे स्वरूप दर्शायेगा, ज्ञान करायेगा? स्व-पर का भेदज्ञान कैसे करायेगा? स्वयं सोता हुआ व्यक्ति दूसरे को कैसे जगायेगा? स्वयं मरण को प्राप्त होने वाले देवी-देवता कैसे शरण होंगे?

अब शरण काकी लेयगा जब इन्द्र नाहीं रहत हैं।
शरण तो इक शुद्ध आतम याहि मुनिजन गहत हैं।।

जब शरीर अपना लगता है कि यह मैं हूँ तब आपके पिताजी का नाम? अमुक! आपकी माताजी का नाम? अमुक! ठीक है वे लौकिक गुरुजन हैं उनका भी अनादर नहीं करना चाहिये। उनकी भी आगम के अनुकूल आज्ञा माननी चाहिये। ध्यान

रखना, आगम के अनुकूल कहा है। अगर मोह के वशीभूत होकर वे ऐसी आज्ञा दें कि नहीं जाओगे, धर्म नहीं करोगे तो तीर्थंकर भी नहीं मानते। हित करना है, मोक्षमार्ग साधना है, तो माता-पिता, भाई-बन्धु आदि का मोह छोड़कर के आप कर सकते हैं। हे शरीर के जनक! मैं अपने अनादि जनक के पास जा रहा हूँ। हे शरीर की रमणी! तू मुझे रमण नहीं कराती। मैं अपनी अनादि स्वानुभूतिरूप रमणी के पास जा रहा हूँ। यह आगम का कथन है। अब संयम मेरा बन्धु है, संयम मात और तात।

संयम मेरा बन्धु है, संयम मात और तात, संयम भव-भव शरण है - शरण कौन होगा? दुःख से कौन बचायेगा? माता बचायेगी, पिता बचायेंगे? हम कहते हैं कि - माता-पिता की अवज्ञा करके कोई लौकिक अपराध करे तो भी पकड़ा जायेगा, तो क्या माता-पिता, पैसा बचा पायेगा? उसे तो सजा भोगनी होगी। कुपथ्य का सेवन किया, पेट में दर्द हुआ तो क्या माता बचा पायेगी या पिता बचा पायेंगे? एक मात्र तत्त्व विचार करने पर ही राहत मिल सकती है, नहीं तो तड़फेगा। 'संयम ही भव-भव शरण नमो टेक अघजात।' यहाँ टेक माने पण्डित टेकचन्दजी समझना! नमो टेक अघजात। संयम से पापों का अभाव होता है।

जिस संयम से जीव सुखी होता है, वह संयम कोई शरीर की क्रिया का नाम नहीं है, मन्द कषायरूप नहीं है, तीव्र कषाय तो है ही नहीं। संयम शब्द में सम्यक् शब्द गर्भित है न! यहाँ तो उत्तम संयम की चर्चा है, लेकिन उत्तम शब्द नहीं भी लगा हो तो भी संयम का अर्थ उत्तम संयम समझना! उत्तम अर्थात् सम्यक्त्व सहित। स्वयं को सम्यक् प्रकार से नियंत्रित करना! मुनिराज

पद्मप्रभमलधारी देव ने लिखा है – यम की यातना से बचने के लिये जो यति हैं, वे उत्तम यम को धारण करते हैं, अंगीकार करते हैं। यम माने मरण भी होता है और संयम भी होता है।

संयम के दो भेद हैं – यम और नियम। आजीवन त्याग का नाम यम और समय की कोई सीमा तय करके त्याग करना सो नियम। यह चरणानुयोग की पद्धति है। **नियमसार में कहा है कि – नियम का अर्थ है अवश्य करने योग्य कार्य।** वहाँ भी संयम के अर्थ में है। वह संयम हमें शरणभूत है, उस संयम की रक्षा आँख के समान करना चाहिये, ऐसा भगवती आराधना में लिखा है। प्राण चले जायें तो कोई बात नहीं है लेकिन संयम चला गया तो बहुत हानि है। संयम को आँख की संज्ञा दी है।

रत्करण्ड श्रावकाचार में पण्डितजी ने लिखा है – देखो! संयम प्राप्त करके उसे बिगाड़ने के समान दूसरा कोई अनर्थ नहीं है। अनर्थ माने अपने अर्थ का घातक, सुख का घातक! विषयों का लोभी होकर जो संयम को बिगाड़ता है, वह कौड़ी के बदले चिन्तामणि को बेचने वाले के या ईंधन के लिये कल्पवृक्ष को काटने के समान है। **'जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग-कीच में।'** चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी जिस संयम को धारण करते हैं, इन्द्र भी जिस संयम को प्राप्त करने के लिये मनुष्य पर्याय की भावना भाते हैं और अपनी देव पर्याय को तुच्छ समझते हैं। कण्ठ से अमृत झरे, उससे हमें क्या सुख है? हम तो अपने अतीन्द्रिय आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के प्यासे हैं। हमारी तृप्ति हमारे सुख का आधार है, हमारे आत्मा के आश्रय से होने वाला अतीन्द्रिय आनन्द है।

वह संयम किसी वेष का नाम नहीं हैं, किसी क्रिया का नाम नहीं है। वह संयम आत्मा का परिणाम है, आत्मामय परिणाम है, सन्तुष्टि का परिणाम है। आत्मा का आत्मा में सन्तुष्ट होना, उसका नाम संयम है।

देखो! आपको एक मनोवैज्ञानिक बात कहें – जिसको जिसमें सुख मिलता है, वह उसके वशीभूत हो जाता है, फिर वहाँ से निकल नहीं पाता। जिसे स्त्री में सुख दिखता है तो वह स्त्री के वशीभूत हो जाता है, जिसको पैसे में सुख दिखता है, वह पैसा नहीं छोड़ पाता। सब छोड़ देगा, पैसा नहीं छोड़ेगा; ऐसे ही जिसे आत्मा में सुख मिलता है वह आत्मा के वशीभूत होता है। वह बाहर निकलने में असमर्थ है। भगवान की स्तुति में आया है –

निज उपयोग आपने स्वामी, गालि दियो निश्चल आपन में।
है असमर्थ बाह्य निकसन को, लवण घुला जैसे जीवन में।।

आपका उपयोग आत्मा से बाहर निकलने में असमर्थ हो गया। नियमसारजी के एक कलश में आया है – जिनके कण्ठ में अमृत हो वे रोटी दाल-भात को कैसे चाहें? अब उनकी अभिलाषा नहीं होती।

सुकुमाल साधारण चावलों को भी बीन-बीन कर खा रहे थे। जब इन्द्रिय सुख की वाँछा वाला जीव भी बीन-बीन कर खाता है तो अतीन्द्रिय आनन्द वाला जीव, ज्ञायकभाव का महास्वाद आने पर बीन-बीन करके यानि भेदज्ञान क्यों नहीं करेगा?

पानी में रहने वाली मछली घास पर नहीं रह सकती, कैसे तड़फती है। ऐसे ही अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वादी ज्ञानी धर्मात्मा,

पुण्योदय के भोगों में भी तड़फता है। पाप के उदय से रोगों और प्रतिकूलताओं की बात तो बहुत दूर है।

संयम आत्मा का आत्मामय परिणाम है। परम तृप्ति और संतुष्टिरूप परिणाम है। जब तक आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आया था –

मिलो निराकुल स्वाद न यावत,
तावत पर परिणति हित मानी।

परद्रव्यों में सुख की कल्पना करके भटक रहा था, दौड़ रहा था। जब आत्मा का निराकुल स्वाद आया तब इन्द्रिय सुख हेय भासित हो गया। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के बिना इन्द्रिय सुख को हेय कह सकते हैं, लेकिन भासित नहीं होते। पुण्य को हेय कह सकते हैं, लेकिन पुण्य हेय लगता नहीं है क्योंकि भीतर पुण्य के फल की वाँछा बैठी है।

जब आत्मा आत्मा के वशीभूत हो गया, उपयोग अपने स्वरूप में तृप्त हो गया, सन्तुष्ट हो गया तो इन्द्रियों के विषयों की ओर उसका उपयोग नहीं जाता, वहाँ सुख की कल्पना नहीं होती। श्रावकाचार में ही सम्यग्दृष्टि का एक निःकांक्षित नाम का अंग लिखा है।

अनेक प्रकार के कर्म हैं, पुण्य का उदय है, जीवों को उसे भोगने की अभिलाषा हर समय होती है। कभी खीर खाने का मन होता है और कभी नहीं होता। आज मन नहीं है, आज उलझन में है हमारा दिमाग! ये औदयिक भाव हैं, स्वाभाविक भाव नहीं हैं, तो अतीन्द्रिय आनन्द में तृप्त जीव इन्द्रिय सुखों की

वाञ्छा नहीं करता। ज्ञानी धर्मात्मा इन्द्रिय सुखों को और कर्मरूपी विष वृक्ष के फल को अनन्त दुःख जानते हैं।

वेदनीय कर्म का दृष्टान्त शहद लपेटी तलवार से दिया है। संसार की असारता बताने के लिये केले के खम्बे का दृष्टान्त दिया है, प्याज का नहीं। भेदज्ञान कराने के लिये घी के घड़े का दृष्टान्त दिया है, अचार के घड़े का नहीं, क्योंकि प्याज और अचार जैनों के घरों में होते ही नहीं हैं। जीव को राजा कहा, मोह को नहीं, मोह भी कोई राजा है?

इन्द्रिय सुख अन्त में दुःखरूप है। शहद लपेटी तलवार का दृष्टान्त इसलिये दिया है क्योंकि तलवार की धार पर शहद कितना आयेगा, मिठास तो बहुत कम है और जिव्हा के कटने का दुःख बहुत है – यह तो स्थूल अर्थ है, लेकिन एक विचार और आया कि शहद लपेटी कहा, चासनी लपेटी नहीं क्योंकि शहद स्वयं में अभक्ष्य है। ऐसे ही इन्द्रियों के जो भोग हैं वे अभक्ष्य हैं अर्थात् भोगने योग्य नहीं हैं। कोई कहे कि वे तो अपने आप मिलते हैं, तो अपने आप मिलने पर भी भोगने लायक नहीं हैं। सर्प अपने आप निकल आने पर भी रखने लायक तो नहीं है। गेहूँ के साथ भूसा होता है लेकिन भूसा खाने लायक तो नहीं होता। ऐसे ही पुण्य से मिले भोग भी भोगने लायक नहीं है। **'राचन योग स्वरूप न याको, विरचन योग सही है।'**

जब जीव को अतीन्द्रिय सुख का स्वाद आता है तब विचारता है कि इन्द्रिय सुख नानाप्रकार से पराधीन है, अन्तसहित है, दुःखरूप है और पाप का बीज है। ऐसे सुख की वाञ्छा उसे

नहीं होती, उसमें सुख की प्रतीति ही जब नहीं होती तो उसमें सुख कैसे होगा? यदि कहीं सौ रुपये का नोट पड़ा हो तो उसे आप उठा लोगे, यदि गोबर पड़ा हो तो क्यों नहीं उठाते? क्योंकि उसमें आपको सुख की कल्पना नहीं होती, जिसमें सुख की कल्पना नहीं है, उसे आप नहीं चाहते। मोह की दशा में जीव उसे चाहता है जिसमें उसे सुख की कल्पना होती है। ज्ञानी को अपनी आत्मा में सुख दिखाई देता है, उसे अन्य से सुख की अभिलाषा कैसे होगी? इन्द्रिय सुख में सुख का श्रद्धान नहीं होने के कारण उसे इन्द्रिय सुख की अभिलाषा कैसे होगी?

संयम किसका नाम है? **'विषयों की आशा नहीं जिनके'।** लेकिन ज्ञानी को आशा, अभिलाषा का त्याग हो गया है। आशा भी नहीं है और अभिलाषा भी नहीं है हम तो अपने स्वरूप में तृप्त हैं, सन्तुष्ट हैं। अमृतचन्द्र स्वामी के शब्दों में कहें तो कर्म रूपी विष वृक्ष के समस्त फल मेरे बिना भोगे खिर जाओ! हम तो स्वरूप को संचेतते हुये आनन्दित रहते हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप में रति और पापों से विरति का नाम संयम है। स्वरूप में रमे बिना पापों से विरति कैसे होगी?

संयम की प्ररूपणा दो प्रकार से है – परमार्थ संयम और व्यवहार संयम। अपनी परिणति अपने में सन्तुष्ट, तृप्त हो गई, लीन हो गई यह परमार्थ संयम है और पापों से नियमपूर्वक, प्रतिज्ञा पूर्वक विरक्त हो जाने का नाम व्यवहार संयम है। इस व्यवहार संयम की प्ररूपणा दो प्रकार से है – एक तो पाँचों पापों के एकदेश त्याग पूर्वक पाँच अणुव्रतों का पालन! इनका त्याग नहीं होना सो व्यवहार असंयम है।

आप बैंक से लोन का रुपया ले आये और घर पर रख लिये। कुछ दिनों बाद वापिस करने जाएँ और बैंक में जाकर कहें – साहब! हमने ये रुपये काम में नहीं लिये, ऐसे ही रखे रहे, इसलिये इनका ब्याज नहीं लो तब वे कहेंगे – आपने काम में नहीं लिये तो उसी समय वापिस कर जाते, जमा करा जाते। इसीप्रकार पापों में प्रवर्ते या नहीं प्रवर्ते, जब तक नियमपूर्वक त्याग नहीं है, तब तक संयम नाम नहीं पाता। संयम में प्रतिज्ञाबद्ध नियम होना चाहिये। हम रात में तो नहीं खाते, लेकिन त्याग नहीं है, तो चाहे जब खा लोगे?

पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है – जिसका त्याग नहीं है उसकी निरन्तर आशा बनी रहती है और प्रसंग बनने पर तद्रूप परिणाम हो जाते हैं। इसलिये जो बन सके वह प्रतिज्ञा अवश्य करना चाहिये, तो ये पाँचों पापों के त्याग की अपेक्षा कथन है। एक बारह प्रकार की अविरति कही और बारह प्रकार का संयम कहा है, पण्डितजी ने दोनों विवक्षायें ली हैं। षट्काय के जीवों की विराधना का त्याग और पंच इन्द्रियाँ और मन के विषयों की प्रवृत्ति का त्याग। प्रवृत्ति का अर्थ क्या है? विषयों में प्रवृत्ति का त्याग! अभी आपकी रसना इन्द्रिय में प्रवृत्ति हो रही है, नहीं होती! रात में होती है आपको? रात में तो हम कुछ लेते ही नहीं हैं, त्याग है हमें, लेकिन मन की, वचन की प्रवृत्ति होती है या नहीं? आप केवल काया की प्रवृत्ति को ही प्रवृत्ति मानते हैं। जब कुछ खाते हैं तब लगता कि रसना इन्द्रिय की प्रवृत्ति हो रही है, लेकिन जिस समय हम भोजन की चर्चा कर रहे हैं, उस समय भी रसना इन्द्रिय की प्रवृत्ति है या नहीं? भोजन कथा

किसे कहते हैं? हम विचार करते हैं कि भोजन बहुत अच्छा था – समझ लो मन की प्रवृत्ति हो गई।

हम संयम के तीन भेद इसप्रकार भी कर सकते हैं – मन का, वचन का और काय का संयम। संयमित विचार, स्वरूप दृष्टि पूर्वक तत्त्वज्ञान! उल्टे सीधे विचार करोगे तो पाप कर्मों का बन्ध होगा। ऐसा हो जाए तो मजा आ जाए! मजा आ जाए या सजा हो जाए! विषयों को **'भव बन्धकारक, सुख प्रहारक'** लिखा है। विषयों में प्रवृत्ति तो बहुत बाद की बात है, विषयों की वाञ्छा मात्र से ही जीव सुख से वंचित हो जाता है। सीता की वाञ्छा मात्र से ही रावण की दशा कैसी हो गई। रनिवास सूना लगने लगा, उसका दिमाग ही फेल हो गया। एक विपरीत विचार से ही सारी बुद्धि, सारी शक्ति जाती रही कि सीता मेरे अनुकूल कैसे हो जाये, कुछ भी सुनने को तैयार नहीं! ये विचार लोक निंद्य हैं, 'बोलो मत! राज्य की समस्त उत्तम वस्तुओं का स्वामी राजा होता है। तीन खण्ड में जो भी उत्तम वस्तुयें हैं उनका स्वामी मैं हूँ।'

पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति से मन की प्रवृत्ति भी तो होती है न! इसके मूल में क्या है? बिना सम्यग्दर्शन के संयम नहीं होता। विषयों में सुख बुद्धि छूटे बिना विषयों की अभिलाषा नहीं छूटेगी। जब तक विषयों की अभिलाषा नहीं छूटेगी तब तक प्रवृत्ति भी नहीं छूटेगी। **प्रवृत्ति हो भी या ना हो; लोकनिंदा के भय से, नरकादिक के भय से या राजा के भय से हम उनमें प्रवृत्ति नहीं भी करें तो भी पाप का बन्ध तो होता है, आत्मा के आनन्द से वंचित होता है।**

जिस संयम से जीव सुखी होता है, वह संयम हमारा बन्धु है, हमारी माता-पिता के समान रक्षा करने वाला है, भव-भव में शरणभूत है। अरे! भव का अभाव कराने वाला है, मुक्ति सुख को देने वाला है। ध्यान रखना संयम आत्मा का परिणाम है। अतीन्द्रिय ज्ञान की, अतीन्द्रिय आत्मा में प्रवृत्ति, उसका नाम संयम है। असंयमी जीव सबका दास है और संयमी के सब दास हैं। विधान में लिखा है **'संयम के सब दास बताये'** - ऐसा संयम सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

एक बात और है, संयम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान पुष्ट होता है। **ज्ञान बिना आचरण नहीं होता और आचरण रहित ज्ञान को विषयरूपी चोर लूट लेते हैं। संयम के बिना ज्ञान की सुरक्षा नहीं है।** आप जवाहरात रखें और तिजोरी नहीं हो आपके पास, तो जवाहरात की सुरक्षा कैसे होगी? देखो! पिता से पुत्र का जन्म होता है फिर पुत्र पिता की बुढ़ापे में सेवा करता है, समाधि कराता है, आपके व्यापार को संभालता है, आपको निश्चिन्त करता है, पुत्र के द्वारा पिता की कीर्ति होती है।

ज्ञान आधार और जानन क्रिया आधेय - वस्तु का ऐसा स्वरूप है, लेकिन संवर अधिकार में क्या लिखा? जानन क्रिया आधार और ज्ञान आधेय! क्यों लिखा ऐसा? क्योंकि जानन क्रिया में ज्ञान की प्रसिद्धि होती है ऐसे ही संयम से सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। वृक्ष ज्यों-ज्यों ऊपर बढ़ता जाता है, उसकी जड़ें भी उतनी गहरी और मजबूत होती जाती हैं, नहीं तो वह गिर जाएगा। एक बीज बोया, इतना सा अंकुर आया, उतना ही जमीन के भीतर है। वृक्ष बड़ा हो गया तो उसकी जड़ें भी दूर-

दूर फैली रहती हैं। **सम्यग्दर्शन के बिना संयम नहीं होता और संयम से सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है।** यहाँ यही बात कही है। चरणानुयोग शैली है न!

ज्ञान के बिना आचरण नहीं होता और आचरण से ज्ञान शोभा पाता है। आचरण ही ज्ञान का फल है तो संयम ही सम्यग्दर्शन का फल है – ये समझ लो। नींव के बिना मन्दिर नहीं बनता लेकिन अकेले नींव भर ले तो क्या लाभ होगा? पचास कमरों की नींव भरी हो तो वह रहने के काम नहीं आयेगी। दो कमरे तैयार हों, वे काम में आयेंगे। जो जहाँ जरूरी होगा उस विवक्षा से कथन करेंगे। नींव रहने के काम नहीं आयेगी और कोई डेढ़ अकल लगाये, नींव भरे नहीं, ऊपर लगाये संगमरमर तब धरासायी हो जाएगा वह महल! जब नींव की महिमा कहें – तब महल की उपयोगिता निरर्थक नहीं समझ लेना। हम पक्ष पकड़ बैठे हैं कि ये तो क्रिया पक्ष वाले हैं, ये व्यवहार वाले हैं, ये निश्चय वाले हैं। पक्ष को छोड़ो! पक्ष को छोड़कर पारखी बनो। संयम और सम्यक्त्व विरोधी नहीं हैं। सम्यक्त्व मूल है और संयम वृक्ष है, अतीन्द्रिय आनन्द उसका फल है। क्या सुन्दर चर्चा की है। संयम से ही सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। संयम ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है।

राजा दशरथ जब दीक्षा लेने लगे तब भरतजी का भी परिणाम दीक्षा लेने का हो गया! उन्होंने कहा – हे तात्! हम भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे तब दशरथ ने लाड़-प्यार की भाषा में कहा – ''देख बेटा! अभी तू छोटा है, तेरा शरीर कोमल है, तेरी माता बहुत दुःखी है। अभी तू निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण मत कर!

गृहस्थ धर्म का पालन कर!'' तब भरत ने कहा – ''हे तात्! यद्यपि गृहस्थ धर्म से परम्परा मोक्षमार्ग है, परन्तु साक्षात् मोक्ष नहीं है। हमें साक्षात् मोक्ष के कारणरूप निर्ग्रन्थ मार्ग की ही अभिलाषा है।''

संयम मोक्ष का मार्ग है। संयम बिना मनुष्यभव शून्य है। जिन्हें संयम इष्ट है, उन्हें देव पर्याय अच्छी नहीं लगती। धर्म की रुचि वालों को महानगर अच्छे नहीं लगते। वहाँ मन्दिर नहीं, सत्समागम नहीं, खान–पान शुद्ध नहीं, बेकार है सब वहाँ। एक बालक पहुँच गया मुम्बई, जब आया तो बोला – ''महाराज! मुम्बई पहुँच तो गये पैसा कमाने, सोचा था कि थोड़ा पैसा कमा लें, कमजोर स्थिति थी यहाँ, हम तो सोचते हैं कि जल्दी वापिस लौटें, यहाँ स्वाध्याय का लाभ लें।'' जिन्हें भोगों की अभिलाषा है, वे कहते हैं कि यहाँ गाँव में क्या रखा है? न बिजली है, न मनोरंजन के साधन हैं। अरे! ये सब बिगड़ने के साधन हैं। यहाँ शान्ति से रहो! भगवान को छोड़कर, सत्समागम को छोड़कर, विषयों में आसक्त होकर अपने मन को भटकाओ मत! ये धर्म ही तुम्हारे लिए शरणभूत होगा। भोग, धन, वैभव नहीं होंगे।

संयम बिना दीक्षा धारना, व्रत धारना, मूड़ मुड़ावना, नग्न रहना, वेष धारना – ये सब वृथा हैं। क्या मतलब? संयम बिना ये सब वृथा हैं? तो संयम कोई और है? सूक्ष्मता से पढ़ें तो इसका अर्थ है कि संयम कोई और है '**मन–इन्द्रिय वश में हैं जिनके और तपस्या से क्या काम।**' अगर मन इन्द्रियाँ वश में हैं तो वह संयम ही तो है। मात्र वेष धारण करने से तो शान्ति नहीं मिलेगी।

गाँव का एक व्यक्ति शहर में गया, देखा नल से पानी निकल रहा है। सोचा यहाँ अच्छा है, वहाँ तो कुँआ से पानी खींचो। उसने नल की टोंटी खरीदी और घर में आकर दीवाल में लगा दी। पानी कहाँ से आये? शहर जाकर दुकानदार से कहा कैसी टोटी दी है? पानी तो नहीं आया। दुकानदार ने पूछा – कहाँ लगाई? वह बोला जैसे यहाँ लगी है, वैसे हमने लगा ली है। अरे! उस टोंटी में पानी तब आयेगा जब उसे पानी के स्रोत से जोड़ोगे। ऐसा ही जब हम अपने उपयोग को तत्त्वाभ्यास में लगायेंगे, स्वरूप में जोड़ेंगे तब आनन्द आयेगा।

घर छोड़कर जब अपना घर पहिचानेंगे, पापों से विरक्त होंगे, तभी तो काम बनेगा! नमक थूकने मात्र से मिश्री का स्वाद तो नहीं आयेगा। नमक को थूककर कुल्ला करके जब मिश्री रखेंगे मुँह में, तब मिश्री का स्वाद आयेगा। ऐसे ही विषयों का त्याग करके अपना उपयोग अपने विषय में लगायेंगे तब पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा नहीं रहेगी। जब अभिलाषा मिट जाती है, मर जाती है, विषयों की प्रवृत्ति छूट जाती है, तब विषय सेवन में होने वाली हिंसा भी छूट जाती है। तब बाह्य संयम पालना नहीं पड़ता, भूमिकानुसार स्वयं पलता है, सहज पलता है और वह संयम आनन्दमय होता है। ऐसे संयम को उत्तम संयम कहते हैं। उसकी व्यवहार और परमार्थ विवेचना को भलीप्रकार समझकर परमार्थ संयम की ओर हम बढ़ें, परमार्थ संयम को प्राप्त करें, इस मंगल भावना के साथ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम तप धर्म

इच्छा का निरोध करना ही तप है। चार आराधनाओं में तप प्रधान है। जैसे स्वर्ण को तपाने से, सोलह बार पूर्ण ताप, उष्णता देने से वह समस्त मैल छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी बारह प्रकार के तप के प्रभाव से कर्म-मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि शरीर को पंचाग्नि आदि से तपाने में, अनेक प्रकार से काय क्लेश सहने को तप कहता है, किन्तु वह तप नहीं है, शरीर को जला देने से, सुखाकर कृश कर देने से क्या होता है? मिथ्यादृष्टि, ज्ञानपूर्वक आत्मा को कर्मों के बन्धन से छुड़ाना नहीं जानता। आत्मा कर्म कलंक रहित है। भेदज्ञान पूर्वक अपने आत्मा के स्वभाव को तथा राग-द्वेषादि कर्मरूप मैल को भिन्न-भिन्न देखकर जिसप्रकार से राग-द्वेषादि मैल भिन्न हो जाएँ तथा शुद्ध ज्ञान दर्शनमय आत्मा भिन्न हो जाए, वह तप है। तप कहने से सम्यक् तप, उत्तम तप समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना जो लोक में तप माने जाते हैं, उन्हें कुतप कहते हैं। आगम में कहे गये बारह प्रकार के तपों को मन्दकषायपूर्वक स्थूलपने धर्मबुद्धि से बिना सम्यग्ज्ञान के धारण करना बालतप कहा गया है। तप का सम्बन्ध बाहर से नहीं अन्दर से है।

देखो! एक कषाय की अग्नि होती है, जिसमें जीव का ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, प्रभुता आदि जलते हैं और यह जो तप की अग्नि है उसमें कर्म जलते हैं, विकार जलते हैं। तप को शोधक

अग्नि कहा गया है। पूजा में भी कहा है –

फिर तप की शोधक वन्हि जले, कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़ें।
सर्वांग निजात्म प्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें।।

तप की अग्नि को शोधक अग्नि कहा है। शोधक माने – शोधन करने वाली.....अब शोधक अग्नि है तो शोधन की विधि तो आना चाहिये और वह विधि भेदज्ञान ही तो है, तो भेदज्ञान के बिना शोधन कैसे होगा? जैसे बाइयाँ अनाज शोधती हैं, तो अनाज शोधन का अर्थ क्या है? भोजन सामग्री का शोधन करते हैं न! तो शोधन करने का अर्थ क्या है? उसमें जो खाने लायक नहीं है उन सबको अलग कर लिया जाए! ऐसे ही अन्तर-शोधन का अर्थ क्या है? अन्तर-शोधन का अर्थ है कि जो वेदन करने योग्य है, श्रद्धेय है वह आत्मा अलग है, उसे अलग जानना और रागादि भावों को भिन्न जानना! स्व-पर की दृष्टि से कहें तो आत्मा स्व और रागादि भावों को पर जानना चाहिए। जब स्व और पर ज्ञेय जाने तब स्व और पर को भिन्न जानने पर क्या होगा?

जैसे एक मकान में दो भाई रहते थे शामिल रूप से। अब कोई प्रसंग बना, बटबारा हो गया। रोज-रोज का विवाद मिटाने का उपाय बटवारा करना, न्यारा करना! बटबारा होने पर समझदार आदमी क्या करता है? वह अपने सारे सामान को, सारे उपयोग को वहाँ से अपने तक समेटता है। अगर वह ऐसा नहीं करे तो विवाद कैसे मिटेगा? न्यारा होने का अर्थ है कि पर से अपना सारा उपयोग समेटे। बस, अब हमें उससे कोई मतलब नहीं है। कोई कहे कि वह कमरा बड़ा खराब हो रहा है तो वह कहेगा

कि वह तो भाई के हिस्से में है। हम कई बार कह चुके हैं, ठीक करा लो, लेकिन वह सुनता नहीं है।

पण्डित टोडरमलजी भी यही बात कहते हैं। जीव-अजीव को जानने का प्रयोजन क्या है? जीव को जाने बिना अजीव को जीव मानता था, शरीर को मैं मानता था और शरीर को मैं मानने से उसी के आधार से सुख-दुःख की कल्पना करता था, इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता था, राग-द्वेष होते थे, उससे जीव दुःखी होता था। शरीर को अपना मानने से यह संसार खड़ा होता है।

अब आप तो स्वयं जीव है और शरीरादिक अजीव हैं, यह जाना तो शरीर से निजपना भी टूटा और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी टूटी, जिससे दुःख का अभाव हुआ। यह जीव-अजीव को जानने का प्रयोजन है। केवल पढ़कर या सुनकर कहता रहे कि जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है लेकिन देह को अपना मानता रहे, उन्हीं में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता रहे, उनसे उत्पन्न राग-द्वेष का पोषण करने में अपना पूरा ज्ञान, समय, शक्ति लगाये तो फिर इस शुष्कज्ञान से क्या लाभ होगा? ऐसे ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहते।

समयसारजी की टीका में कहा है कि - जो ज्ञान, आस्रवों से निवृत्त नहीं है वह ज्ञान ही नहीं है, इसलिए ज्ञान-मात्र से आस्रवों का, बन्ध का निरोध सिद्ध होता है। ज्यों-ज्यों जीव विज्ञानघन होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है। ज्यों-ज्यों जीव आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाता है।

जिनागम का अभ्यास करने पर और अध्यात्म शास्त्रों का

अभ्यास करने पर भी जीव को सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं होता? पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है। प्रयोजन पर दृष्टि नहीं होने पर देह और आत्मा को ऐसे भिन्न कहता है, जैसे किसी और को किसी और से भिन्न कहता है। पाप दुःख का कारण है, राग दुःख का कारण है – ऐसे कहता मात्र है, परन्तु भावभासन नहीं होता।

अरे! परमार्थ से अपना आत्मस्वरूप तो पहिचाना ही नहीं है और व्यवहार में भी इस जीव की विपरीतता क्या है? कि जो अपने को भुलाये उन्हें तो अपना कहता है और जो अपने को बताये वह तो कुछ है ही नहीं! स्त्री, पुत्र, परिग्रह का स्वरूप तो यही कहा है कि जो अपने को भुलाकर, पापादिक में फँसाकर नरकादिक में ले जाने वाले हैं।

पाप दुःख का कारण है, राग दुःख का कारण है, राग आग है और विषयों में सुख नहीं है, ऐसे कहता है जैसे किसी और के लिये कह रहा हो। कुछ होश नहीं है। पाप दुःख का कारण है तो भाई! छोड़ो इनको! राग आग है तो बुझाओ इसको! '**ज्ञान घन-घान बुझावै।**' इस राग के मूल को पकड़ो। कुछ होश नहीं है, मानो किसी और को औरों से भिन्न बताता है, दुःख का कारण किसी और को बताता है। परिग्रह दुःख का कारण है और मानता है सुख का उपाय है। सुख के लिये दृष्टि जायेगी तो परिग्रह पर जायेगी। "आज यदि पैसा होता तो काहे के लिये हैरान होते! बुढ़ापे में अपना पैसा ही काम आता है, बाल-बच्चे भी नहीं पूछते।" अरे! पैसा काम आता है कि ज्ञान काम आता है। पैसा काम आयेगा या ज्ञानाभ्यास काम आयेगा यह बतायें?

लेकिन इसे ऐसा नहीं लगता कि ज्ञानाभ्यास काम आता है। कहता है कि ''देखो! जमाना ठीक नहीं है, कोई किसी को नहीं पूछता। यदि कोई निवृत्ति लेने आ जाए तो उससे कहेगा, ये घर छोड़ने का समय नहीं है और समाज में कोई किसी को नहीं पूछता और कहता है कि गाँठ में पैसा भी रखना, पैसा ही काम आता है।''

अरे रे! शास्त्र में हम पढ़ते हैं कि पुण्य से सारे काम होते हैं और ज्ञान से जीव सुखी होता है, राग से जीव दुःखी होता है। बाहर की व्यवस्थाएँ बनाना, जुटाना, हटाना, बदलना यह हमारे तुम्हारे हाथ की बात नहीं है, लेकिन प्रेक्टीकल जीवन में हमारे वे ही सोच चलते रहते हैं, वे ही विचार चलते रहते हैं, प्लानिंग में वे ही चलते रहते है। यह नहीं सोचता कि मैं इनसे निवृत्त कैसे होऊँ? ये बढ़ते रहें, ये बने रहें - बस यह सोचता है।

तप शोधक अग्नि है, यह सामान्य अग्नि नहीं है। इच्छा का निरोध करना तप है और छहढाला में इच्छा को भी अग्नि कहा है। '**विषय चाह दावानल दह्यो**' इस अग्नि में एक और विशेषता है। दुनिया की अग्नि में ईंधन डालो तो बढ़ती है और यदि ईंधन नहीं डालो तो अपने आप बुझ जाती है। यह चाहरूपी अग्नि ऐसी है कि इसमें विषयों की चाह के अनुसार प्रवृत्ति हो जाए तो भी नहीं बुझती और इन विषयों को छोड़ भी दिया जाए तो भी नहीं बुझती।

'**तास उपाय न आन ज्ञान घन घान बुझावै।**' इस चाहरूपी दाह को मेटने का उपाय तो ज्ञानाभ्यास ही है। ज्ञानाभ्यास के बिना विषयों की सामग्री को छोड़ भी दिया जाए, विषयों की

ओर वर्षों तक प्रवृत्ति नहीं हो तो भी वह चाह भीतर ही भीतर जलती रहती है।

प्रथमानुयोग में जम्बूकुमार के पूर्व भव की भवदेव-भावदेव की कथा जम्बू कुमार चरित्र में पढ़ी है! हाथ में कंगन बंधा था। भाई को राग था तो सम्बोधन करने आ गया! और उसने भी लिहाज में आकर दीक्षा ले ली। उसकी स्त्री को मालूम पड़ा, पति दीक्षा लेकर चला गया है तो उसने सोचा अहो भाग्य! धन्य भाग्य! संयम का द्वार खुल गया हमारे लिए। हम रो-रोकर जीवन क्यों बितायें, आराधना में हम भी लग जाएँ। उसने घर को तो चैत्यालय बनाया और साध्वी होकर धर्मध्यान में रहने लगी। उधर उसने भाई के लिहाज से दीक्षा ले तो ली, लेकिन सोचता रहा कि मेरी स्त्री दुःखी होगी। क्या करूँ, कैसे घर जाऊँ! देख तो आऊँ एक बार और बारह वर्षों के बाद उधर से निकला तो उसका मन नहीं माना। अरे प्रभु! जंगल में साधुजनों के संग रहकर भी संगति नहीं की!

संग परिग्रह को कहते हैं और संगति, सम्+गति=सम्यक् गति। जैसा वे जानते हैं वैसा ही हम जानें, जैसा वे विचारते हैं वैसा ही हम विचारें, जैसा वे अनुभवते हैं वैसा हम अनुभवें, तब संगति कही जाए।...कहाँ वह जंगल में रहा, वहाँ स्त्री का नाम-निशान कुछ नहीं, लेकिन फिर भी स्त्री का राग बना रहा।

इसीप्रकार दूसरा दृष्टान्त पुष्पडाल मुनिराज का भी है। वह बारह वर्ष वारिषेण मुनिराज के संग में रहा तो भी समवशरण में भगवान की अलंकारिक शैली में कोई स्तुति कर रहा था लेकिन उसे स्त्री की याद आ रही थी, इसलिए चुपचाप चल दिया।

दुनिया की जो अग्नि है वह ईंधन के बिना बुझ जाए लेकिन यह विषयों की चाहरूपी दाह ऐसी है कि यह जीव विषयों से बहुत दूर भी हट जाए तो भी ज्ञानाभ्यास के बिना नहीं बुझती। यह बिना ही ईंधन के जलने वाली अग्नि है, लेकिन नहीं बुझती ऐसा नहीं समझ लेना! इस चाहरूपी दाह को, इच्छारूपी अग्नि को बुझाने में ज्ञानाभ्यास ही समर्थ है 'ज्ञान घन घान बुझावै'। इसलिये भाई! **जो बिना ज्ञानाभ्यास के निवृत्ति लेकर कल्याण करना चाहते हैं, वे भी भ्रम में ही हैं।** जो बिना निवृत्ति लिये ही आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं उनकी बात हम नहीं कर रहे हैं। बिना निवृत्ति लिये आत्म-कल्याण करने वाले तो ऐसे है जैसे कोई अग्नि में ईंधन डाल-डाल कर बुझाने की आशा कर रहे हों। थोड़ा टाइम निकाला, निवृत्ति आई तब तो यह पढ़ने सुनने की बातें आ रही हैं। अब इनके विचार के लिये चाहिये समय, शक्ति। यदि समय, शक्ति, उपयोग, ज्ञान, विषयों में लगेगा तो विचार करना यह कहाँ ठहरेगा? निवृत्ति लेना अलग बात है लेकिन निवृत्ति को सार्थक करना अलग बात है।

मनुष्य भव तो सबको मिला है लेकिन मनुष्य भव सार्थक किसका होगा? जो मनुष्य भव को पाकर के भव के अभाव का उपाय करते हैं अर्थात् अपने को भव रहित अनुभवते हैं, देखते हैं। उनका मनुष्य भव सार्थक होता है, सफल हो जाता है। सार्थक का अर्थ समझ गये। स+अर्थक। अर्थ माने प्रयोजन। जो अपने प्रयोजन को सिद्ध कर ले वह सार्थक है। सफल माने उसका फल आ जाए। तो मनुष्य भव का क्या फल आना चाहिये? रत्नत्रय का फल आना चाहिये,

अतीन्द्रिय आनन्द का फल, प्रभुता का फल आना चाहिये। अब बीज ही नहीं बोये तो फल कैसे आवे? सम्यग्दर्शन बीज है और वैराग्य भावनाओं का चिन्तन वह सिंचन है। अब सिंचन हो तो फल आएँगे। मनुष्य भव मिलना अलग बात है, सफल होना अलग बात है, भव पूरा तो हो जाएगा, सार्थक ज्ञानाभ्यास के बिना नहीं हो पायेगा। इसी शैली में हमें समस्त विषयों में विचार करना चाहिये। जैसे धन मिलना अलग बात है, धन को सार्थक करना अलग बात है।

एक पाषाण देहरी पर लगा है, तमाम डिजायन उकेरी हैं तो भी वह पैरों से पिट रहा है और एक मूर्ति बनी है वह पाषाण पूज्यनीय कैसे हो गया है? क्योंकि उसमें वीतरागता उत्कीर्ण हुई है। जिसमें वीतरागता उत्कीर्ण हो जाए, प्रगट हो जाए वह पाषाण भी उपचार से पूज्यनीय हो जाता है। तो हमारे जीवन में पूज्यता, प्रतिष्ठा कैसे आयेगी, बतायें? अगर हमारा जीवन वीतरागता की प्राप्ति के लिये समर्पित है तो वह सार्थक होगा, पूज्यनीय होगा। यदि हमारा जीवन राग के पोषण में, विषय-कषाय के पोषण में लगा रहेगा, तो वह निंदनीय होगा, पैरों तले रोंदा जाएगा। ऐसे ही यह धन यदि वीतरागता की प्रभावना में, धर्मात्माओं के स्थितिकरण में, धर्मायतनों के जीर्णोद्धार में लगता है, तो सफल है।

अभी जिनवाणी सम्हालना नहीं आया तो परिणाम सम्हालना कैसे सीखोगे? दो हजार साल पहले के लिखे ताड़पत्र पर ग्रंथ आज भी हमें सुरक्षित मिले हैं। मन्दिर में पूजन की पुस्तकों के पन्ने तो सालभर में अलग हो जाते हैं। जिनवाणी का आदर करना सीखो! नवीन निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धार प्रथम कर्त्तव्य

है। जिनमन्दिर धर्मायतन हैं, इनका विस्तार भी होना चाहिए, उद्धार भी होना चाहिए और मन्दिर में बैठकर अपने उद्धार करने की कला भी सीखना चाहिये। दुनिया के दर्शन अवतारवादी हैं, जबकि जैनदर्शन उद्धारवादी है।

धन होना अलग बात है, धन सार्थक होना अलग बात है। ऐसे ही समागम होना अलग बात है और समागम सार्थक होना अलग बात है।

तीर्थक्षेत्रों पर आकर भी दृष्टि नहीं बदली, विचार नहीं बदले, यहाँ आकर भी वैसी ही सुविधाएँ और विलासिताएँ चाहिए, तो जैसे परिणाम घर में रहते थे, वैसे ही यहाँ रहेंगे। थोड़ी-सी विलासिताएँ तो छोड़नी पड़ेंगी। तीर्थक्षेत्रों पर आकर उपयोग लगता है क्योंकि यहाँ बाह्य साधन तो हैं नहीं, एकमात्र अपना शुद्धात्मा, ज्ञानाभ्यास और भगवान रहते हैं तो कदम-कदम पर भगवान याद आते हैं, अपना आत्मा याद आता है, तब वह प्रचुर स्वसंवेदन की दशाएँ बनती हैं, इसलिए हमें जीर्णोद्धार और विकास के नाम पर अपनी संस्कृति को कभी गौण नहीं करना चाहिए। हम संस्कृति को बनाये रखें और प्रयोजन पर दृष्टि रखें।

ज्ञानाभ्यास के लिये बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय को परम तप कहा है। वैसे क्रम और फल की ओर से देखा जाये तो उत्कृष्ट तप तो ध्यान है, लेकिन ध्यान एकाग्रतारूप है। जब हमें एक की पहिचान ही नहीं है और एकाग्रता का फल हमें मालूम नहीं है, एकाग्रता की विधि मालूम नहीं है, चंचलता का कारण मालूम नहीं है तब तक एकाग्रता कैसे होगी? स्वाध्याय और ध्यान का क्या सम्बन्ध है! **स्वाध्याय के बिना ध्यान**

तरंगरूप होता है, चंचलता निरन्तर बनी रहती है, शरीर कहीं बैठा है और उपयोग कहीं भ्रमता रहता है।

किसी व्यक्ति का उपयोग वहाँ घूमता है जहाँ उसने अपना इष्ट मान रखा है या सुख की कल्पना कर रखी है और जहाँ उसकी रुचि होगी! जिस जीव का अपनत्व सर्व से हटकर एक ज्ञायक भाव में आ गया और जिसने अपना सुख अपने में है – ऐसा निर्णय भी कर लिया है, उसे सुख के लिये कौन याद आयेगा? प्यास के लिये किसकी याद आती है, पैसे की तो याद नहीं आती, वो हमारा चश्मा कहाँ गया? उसकी तो याद नहीं आती, प्यास के लिये केवल पानी की याद आती है क्योंकि उसके ज्ञान में यह अच्छी तरह निर्णीत है, समझ में है कि प्यास बुझाने का सम्बन्ध पानी से है, प्यास बुझाने का इन सबसे क्या सम्बन्ध है? कहीं भी जाएँ और वह कुछ और बात करने लगे तो भाई! पहले एक गिलास पानी लाओ बहुत देर हो गई।

भगवान के समीप जाकर के भी हम यह भावना नहीं कर पाते कि हे प्रभु! हमारे जीवन में परमार्थ का प्रकाश हो, हम अपने चैतन्य तत्त्व को प्राप्त करें! हमें विषय क्यों याद आते हैं? स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि क्यों याद आते हैं, पैसा क्यों याद आता है? 'आज पैसा होता, मकान जो बेच दिया, इतना घाटा हो गया। यदि होता तो वह करोड़ों का होता!' यह नहीं सोचते कि यदि भेदज्ञान किया होता तो पंचमकाल में क्यों जन्म लेते। यदि हमने आत्माराधना की होती तो आज यहाँ क्यों आते? यदि बचपन में ज्ञानाभ्यास किया होता या तत्त्व भावना भायी होती तो इच्छाएँ क्यों उत्पन्न होतीं?

अरे! विषयों की इच्छा है, ख्याति, लाभ, पूजादि की इच्छा है, वह भी आपको बाहर से नहीं हो रही, यह अज्ञान से उत्पन्न हो रही है, अस्थिरता से उत्पन्न हो रही है। विषयों की इच्छा विषयों के मिलने पर भी शान्त क्यों नहीं होती? कोई हेतु समझ में है आपके? जैसे शरीर में कोई रोग हो, तो उसको शान्त करने के अनेक उपाय करने पर भी शान्त न हो, उसका कारण, वह औषधि गलत हो रही है, जिस चीज की कमी है वह चीज अगर पहुँचेगी तो रोग मिटेगा। ऐसे ही इच्छाएँ होने पर, विषय इच्छा के अनुकूल मिल जाने पर भी इच्छाएँ शान्त क्यों नहीं होतीं? इच्छाओं का बाह्य सामग्री से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उसका सम्बन्ध तो आत्मा से है, ज्ञान से है।

ज्ञानाभ्यास के बिना ये इच्छाएँ उत्पन्न हो रहीं हैं। यदि जीव निरन्तर ज्ञानाभ्यास करे तो इच्छाओं की निरर्थकता भासित होगी, तब इच्छाएँ मिटेंगी। **'अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से प्रभु भूख न मेरी शान्त हुई'** भूख कहो या इच्छा कहो एक ही बात है। भूख का सम्बन्ध हम केवल रोटी, दाल, भात से ही समझते हैं, लेकिन यह भी एक भूख है, पैसे की, मानबड़ाई, पद, प्रतिष्ठा की भूख - विचार करना! परद्रव्यों से इस भूख का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। **आत्मा से विमुख होने पर इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, आत्मसन्मुख होने पर इच्छाएँ सीमित होती हैं और आत्मलीनता होने पर इच्छाओं का अभाव होता है।** यदि हम आस्रव की जगह इच्छा शब्द का उपयोग करें और आत्मख्याति टीका की भाषा में बोलें तो ज्यों-ज्यों यह जीव विज्ञानघन होता है, त्यों-त्यों इच्छाओं से निवृत्त होता जाता है और ज्यों-ज्यों इच्छाओं से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाता है।

इच्छाओं का निरोध करना तप है। निरोध करने को कर्तृत्व के अर्थ में नहीं, पुरुषार्थ के अर्थ में लेना चाहिये। इच्छाओं के निरोध का तरीका यह है कि जैसे जलते बल्ब को बन्द करना है, तो स्विच बन्द करते हैं, बल्ब अपने आप बुझ जाता है। इसी प्रकार इच्छा के निरोध करने का उपाय समझ लेना चाहिये। ये विपरीत मान्यता, विपरीत विचार - ये सब इच्छाओं को जन्म देते हैं। जब ज्ञानाभ्यास से, तत्त्व विचार से विपरीत विचार मिटते हैं तो इच्छाएँ अपने आप मिटती हैं। **जिसको जिसमें सुख की कल्पना नहीं होती है उसको उसकी इच्छा भी नहीं होती।**

कोई जीव दु:खी तो नहीं होना चाहता तथा जिन संयोगों से और प्रसंगों से दु:ख होता है, उनको भी नहीं चाहता, लेकिन घर में वैभव हो जाए, ऊँचा पद मिल जाए, शरीर निरोग बना रहे, सब प्रकार की अनुकूलता बनी रहे, ये सब इच्छाएँ इसलिए उत्पन्न होती हैं क्योंकि इनसे सुख की कल्पना कर रखी है। विषयों में सुख बुद्धि छूटे बिना, विषयों की इच्छाएँ नहीं मिटतीं।

स्वाध्याय के बिना ध्यान तरंगरूप होता है अथवा करने जाए धर्मध्यान और देह का लक्ष्य होने से विषयों का लक्ष्य होने से आर्त्त-रौद्र ध्यान होता है। ध्यान माने मग्न हो जाना, लीन हो जाना, एकाग्र हो जाना, अन्य कोई चिन्ता नहीं, अन्य कोई बात सुहाय नहीं। ध्यान की यह परिभाषा सब ध्यानों में लगती है। एक आर्त्तध्यान होता है, आर्त्तध्यान दु:खरूप है, उस समय कोई और बात करें तो सुनने के लिये तैयार नहीं होता। जैसे किसी को इष्ट का वियोग हो गया हो, लड़का कहीं चला गया हो, कोई

खबर नहीं मिल रही है, उससे कोई भोजन की कहे तो वह कहता है कि तुम्हें भोजन की पड़ी है, हमें लड़के की चिन्ता है उस समय कोई और बात करे तो वह नहीं सुनता, उपयोग वहीं रहता है, कोई बात उसे सुहाती नहीं है। पर में दुःख की कल्पना करके वहाँ और कोई बात नहीं सुहाती उसका नाम आर्त्तध्यान है।

पर में सुख मानकर मग्न होने से रौद्रध्यान होता है। आर्त्तध्यान दुःख रूप है, दुःख के वेदनरूप है, रौद्रध्यान सुख की कल्पनारूप है। धर्मध्यान आनन्दरूप है क्योंकि धर्मी आनन्दरूप है। धर्मी में एकाग्र होने पर जो परिणति आनन्द रूप होती है, आनन्द को वेदती है, वह धर्मध्यान है। पर में आनन्द की कल्पना करके जो मग्नता होती है, वह हिंसानंदी, चौर्यानन्दी, मृषानन्दी और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है। सच पूछो तो आनन्द नहीं है, आनन्द की कल्पना है। आनन्द का तो घात है वहाँ। ऐसे आनन्द होता हो तो हड्डी चूसने वाले कुत्ते को भी सुख कहो, वह भी छोड़ने को तैयार नहीं है। वह मधु-मक्खी का छत्ता जिसमें से एक बूँद टपक रही है, इतनी मधुमक्खियाँ काट रहीं हैं, उससे कहा - चलो भाई! तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा दें विमान में लेकर, वह मानने को तैयार नहीं है। एक बूँद और। अरे रे प्रभु! धर्मध्यान के नाम पर तत्त्वज्ञान के बिना, भेदज्ञान के बिना, आत्मज्ञान के बिना इस जीव को प्रायः आर्त्त और रौद्रध्यान होते ही रहते हैं, धर्मी को पहिचाने बिना किसके आश्रय से धर्मध्यान प्रगट करेगा!

लोग तो पूजा-पाठ, स्वाध्याय, समागम इन्हें भी धर्मध्यान कह देते हैं, यदि वह धर्मी का लक्ष्य बनाकर करे, तो उपचार से धर्मध्यान हैं, नहीं तो ये सब रूढ़ि मात्र है। इनमें थोड़ा-सा पुण्य

बन्ध हो जाता है, वो भी विषयों का चिन्तन नहीं हो! अगर वहाँ विषयों का ही लक्ष्य है, तो वह आर्त्त और रौद्रध्यान का ही रूप है।

उत्कृष्ट तप तो धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं, लेकिन फिर भी स्वाध्याय को परम तप कहा है। जैसे पंच-परमेष्ठी में सिद्ध भगवान का पद बड़ा है, तो भी अरहंत भगवान को पहले नमस्कार किया है, अरहंत के बिना हमें सिद्ध भगवान का स्वरूप कौन बताता? अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि में ही तो सिद्ध भगवान का सिद्ध समान अपना स्वरूप आया और सिद्ध दशा प्राप्त करने की विधि भी आयी - ऐसे ही स्वाध्याय के बिना कैसे हमें मालूम पड़ेगा कि तप का क्या स्वरूप है? इच्छाओं का निरोध करना, इच्छाओं को रोकना वह तप है।

'इच्छानिरोधः तपः' - आचार्य भगवान ने ऐसा सूत्र लिखा है, अधूरा नहीं लिखा है, ध्यान रखना। किसके लिये इच्छाओं का निरोध करना - यह बतायें। कभी-कभी लोभी भी इच्छा मार कर रह जाता है। मन में आया कि वह चीज ले लें, पर किसी कारण वश कह भी नहीं पाता! तो उसे कुछ तो तप होगा!

लोभ के वशीभूत होकर इच्छा रोक ली तो तप थोड़े ही हो जाएगा। भय से हमने यदि इच्छा रोक ली तो वह तप नहीं है। पण्डित टोडरमलजी ने दृष्टान्त दिया है - जैसे राजादिक के भय से यदि कोई खोटे कार्यों में नहीं प्रर्वतता तो वह शुभाचरण की कोटि में तो नहीं है। रोग बढ़ने की अपेक्षा से, डॉक्टर ने कह दिया कि फलानी चीज नहीं खाना तो ऐसे त्याग करने से वह त्यागी तो नहीं हो जाता। किसी को डायबिटीज है तो घी,

शक्कर नहीं खाये लेकिन उसे घी, शक्कर की रसी तो नहीं है। रोग बढ़ने की अपेक्षा से उसे बता दिया कि तुम्हे रोग बढ़ जायेगा तो वह नहीं खा रहा, तो वह उस रस का त्यागी तो नहीं कहलाता!

इच्छा का निरोध करना, स्वरूप की प्राप्ति के लिये, इसलिये स्वरूप विश्रान्ति से इच्छा का निरोध होना वह सम्यक् तप है और स्वरूप विश्रान्ति के लिये, स्वरूप साधने के लिये, इच्छाओं को रोकना, वह चरणानुयोग का व्यवहार तप है। जैसे – अनशन नाम का एक तप है। अपनी माँगें मनवाने के लिए लोग अनशन पर बैठते हैं तो क्या अनशन तप होता है? अनशन तप की परिभाषा करते हुये आचार्य महाराज ने चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप कहा है। ध्यान, स्वाध्याय की वृद्धि के लिये, प्रमाद, निद्रा, कामादिक को जीतने के लिये चार प्रकार के आहार का त्याग करना सो अनशन तप है। चिकित्सक भी शरीर की शुद्धि के लिये लंघन करा देते हैं। तप तो आत्म शोधन के लिये है, अनशनादिक का कोई उद्देश्य भी तो होना चाहिये!

व्यावहारिक जीवन में ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि के लिये अनशन रोज-रोज तो नहीं हो सकता, इसलिये ऊनोदर करना, भूख से कम खाना यह ऊनोदर नाम का तप है। इसका सम्बन्ध भी ज्ञान–ध्यान से है। तप तो ज्ञान–ध्यानरूप है, इसलिये उस तप के लिये चार प्रकार के आहार का त्याग किया तो उसे भी तप कहा और भोजन कम किया तो उसे भी तप कहा, रसों को छोड़ा उसे भी तप कहा, अटपटी प्रतिज्ञायें ग्रहण कीं, किसके लिये? ज्ञान–ध्यान की वृद्धि के लिये '**ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते।**' मोह कर्म के उदय से जो नाना प्रकार की इच्छाएँ

होती हैं, उनको रोककर ज्ञान-ध्यान की वृद्धि के लिये, इसप्रकार के तपों को अंगीकार करने का विधान चरणानुयोग पद्धति में है। केवल पुण्य बन्ध के लिये, लौकिक मान प्रतिष्ठा के लिये नहीं!

देह और आत्मा के भेदज्ञान के अभाव में यदि बिना लक्ष्य के ये क्रियाएँ होती हैं तो वे बालतप के अन्तर्गत हैं और यदि विषय-कषाय के पोषण के लिये हैं, अगर आगम का आधार भी नहीं है और अटपटी क्रियाएँ होती हैं तो वे कुतप हैं, इनसे कोई लाभ नहीं है।

आज हमारी रसी है, काहे की रसी है? रस आया कि नहीं यह बतायें? इतवार को नमक नहीं खाना, सोमवार को यदि कम हो तो थाली फेंक देते हैं। "आज थोड़े ही त्याग है। आज रविवार है तो क्या बात है? खीर तो होना ही चाहिये या हलुआ तो होना ही चाहिये।" रविवार है तो दाल रोटी खाओ न! नमक का त्याग है तो नमक मत डालो। बिना नमक के तो खाई नहीं जाती! तुम्हें खाना आता नहीं है तो कैसे खाया जाएगा? इच्छाओं को रोके बिना रूढ़िवश रसी कर रहे हैं।

रसी किसे कहते हैं, रस कितने होते हैं? एक होता है भक्ति रस, एक होता है वात्सल्य रस और एक है शान्तरस! अब बतायें रस परित्याग किसको कहते हैं?

जब तक मुँह में कोई वस्तु दबी है तब तक दूसरी वस्तु का स्वाद नहीं आयेगा। देखो नमक को मिश्री मानकर खायेंगे तो मीठा स्वाद तो नहीं आयेगा? विचार करना! मिश्री के स्वाद लेने के लिए नमक को बिल्कुल हटा दें तभी तो मिश्री का स्वाद आ पायेगा। कोई चीज चखना हो तो पहले कुल्ला करते हैं। ऐसे ही

आत्मरस का स्वाद लेने के लिये बाह्य रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

शान्त रस के लिये श्रृंगार रस छोड़ना चाहिये। यह तो एक रसना इन्द्रिय से सम्बन्धित रस आपने जोड़ लिये हैं और तो सब अभ्यास करने की बातें हैं। रस परित्याग किसके लिये है? आत्मरस के लिये। **तत्त्वाभ्यास के बल से, विषयों का रस छोड़कर आत्मरस का आस्वादन करना वह रस परित्याग तप है।**

एक विविक्त शय्यासन नाम का तप है। बहुत लोग इस तप के लिये ऐसा कहते हैं कि महाराज शक्ति तो है नहीं तप कैसे करें? शक्ति नहीं है, इसीलिये तो इस तप को करने के लिये कह रहे हैं। जब पचाने की शक्ति नहीं होती, तभी तो रोटी बन्द करते हैं। अब वह कहे कि शक्ति नहीं है, तब वह डॉक्टर कहता है कि शक्ति नहीं है, इसीलिये तो कह रहे हैं। आँख कमजोर है, इसीलिये तो कह रहे हैं कि टी.वी. मत देखो, जिनवाणी के स्वाध्याय में लगो! समझो और विचार करो भाई! समय कम है इसीलिये तो कह रहे हैं कि प्रयोजनभूत काम पहले कर लो! आप कहते हो कि शक्ति नहीं है। शक्ति नहीं है क्योंकि तप नहीं है जीवन में! तप से शक्ति का घात नहीं होता तप से शक्ति प्रगट होती है। विषय-कषाय से, प्रमाद से शक्ति का घात होता है। विषय-कषाय से जो पाप होता है उससे आपके शरीर की शक्ति भी घट जाती है।

शक्ति नहीं है, समय नहीं है, तो सावधान हो जाना चाहिये और आत्माराधन के मार्ग में लग जाना चाहिये। जहाँ तक बाह्य शक्ति की बात है तो भोजन आदि के त्याग से आप

अनशन तप नहीं कर पा रहे हो लेकिन विविक्त शय्यासन तप करने में, रस परित्याग करने में, ऊनोदर तप करने में कौन सी शक्ति चाहिये? सही बात तो यह है कि अज्ञानी इच्छाओं की पूर्ति में अपनी शक्ति की होली जला रहा है। इच्छाओं को रोकने में ज्ञान शक्ति, अंतरंग आत्म शक्ति चाहिये। इच्छाओं को रोके बिना तप करने में कोई जीव समर्थ नहीं है। **जिस शक्ति से इच्छा रोकी जाती है अथवा रुकती है वह शक्ति ज्ञानाभ्यास से प्रगट होती है, तत्त्व भावना से प्रगट होती है, आत्मा में से आती है, बाहर से नहीं ही आती। आप विचार करना!**

विविक्त शय्यासन तप करने में कौन-सी शक्ति चाहिये? अरे! यह जीव पाप को छिपाने के लिये, विषयों के सेवन के लिये अकेलापन चाहता है। आज तो न्यारे-न्यारे रहने का एक फैशन हो गया है। हम तो न्यारे हो गये! हम भी कहते हैं कि न्यारे हो जाओ! न्यारा रहने में बड़ा सुख है, लेकिन किससे न्यारे रहना। छहढाला में लिखा है कि **'वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया'।** न्यारा रहना है तो न्यारा रहने की पहले विधि सीखो! न्यारा किससे होना है? जो दुःख के कारण हैं उनसे न्यारे होना है!

विषयों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के लिए और पापों को छिपाने के लिए जीव अकेलापन चाहता है। यहाँ कोई देखता नहीं है, यह पता नहीं है कि अनन्त परमेश्वर देख रहे हैं और शरीर के अन्दर बैठा परमेश्वर देख रहा है। उनकी विराधना करके तुम विषयों की पूर्ति के लिये अकेलापन और न्यारापन चाहते हो। विविक्त शय्यासन तप में अपने आत्मतत्त्व की आराधना के

लिये, एकत्व के विचार के लिये विषयों से बचें। विषयों से, विकथा से बचकर एकत्व की आराधना के लिये, धर्मध्यान के लिये, अकेले में रहना, अकेले में सोना, अकेले में बैठना वह विविक्त शय्यासन नाम का तप है। कोई लक्ष्य तो होना चाहिये, लक्ष्य के बिना यह तप नहीं होता।

इसीप्रकार पाप के उदय से काया में नाना रोगों की प्रतिकूलतायें आती हैं, उन्हें क्लेश कहते हैं। उन्हें दूर करने के लिये, आकुल–व्याकुल नहीं होना, उन्हें भेदज्ञान के बल से दूर देखना, ये मेरे में नहीं है। भजन में है –

रोगादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानि।
सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे, आतम रूप अबाधित ज्ञानी।।

कितने सुन्दर–सुन्दर भजन हैं – ऐसे भजन हैं जहाँ से उपयोग भगे नहीं, लग जाए! उनका विचार करें तो उपयोग अन्तर्मुख हो जाए। लेकिन क्या करें, हमें पढ़ने की फुर्सत ही नहीं है। टेप रिकार्ड बजा दिया और लग गये किसी काम में। करोड़ों की कोई कम्पनी हो, लाखों का लाभ होता हो, लेकिन आपको तो उतना ही मिलेगा जितना आपका शेयर होगा। अगर आपका उसमें शेयर नहीं है तो आपको क्या मिलेगा? ऐसे ही ये जो क्रियाएँ हो रही हैं वह भी एक व्यापार समझो। देखो! जो शरीर की क्रियाएँ हैं वे सब पौद्‌गलिक हैं, वाणी की जो क्रिया है वह भी पौद्‌गलिक है। आपका कितना उपयोग जुड़ा है, आपका कितना विचार स्वलक्ष्य पूर्वक चलता है, उतना लाभ आपको मिलेगा।

पूजा में तीन घण्टे आनन्द आ गया! अरे! आनन्द तो तब आयेगा जब उपयोग अन्तर्मुख होगा! उपयोग अन्तर्मुख हुये बिना

आनन्द आयेगा कहाँ से? यदि आपकी कषाय कम नहीं हुई तो आनन्द कहाँ से आयेगा यह तो बतायें? कषायों से दुःख होता है, कषायें यदि मन्द हों तो दुःख मन्द होता है, कषायें मिटने पर दुःख का अभाव होता है। सुखस्वभावी आत्मा का वेदन होने पर सुख होता है।

इसप्रकार से इन बहिरंग तपों का स्वरूप समझना चाहिये। अन्तरंग तपों का स्वरूप भी इसीप्रकार समझना चाहिये। हमें तप करने की शक्ति नहीं है – ऐसा कहकर प्रमाद और स्वच्छन्दता का पोषण मत करो। अरे भाई! मालूम है आपको तप कितने होते हैं और उनका क्या स्वरूप है? परमार्थस्वरूप आत्मा में विश्रान्तिरूप तप की तो खबर नहीं है और इन बारह प्रकार के तपों का सम्यक् स्वरूप स्वाध्याय के बिना समझ में नहीं आता है। अज्ञानी को कुछ खबर नहीं है।

प्रायश्चित नाम का पहला तप है। यह बात अच्छी तरह समझ लेना कि दोष ही दुःख के कारण होते हैं। परद्रव्य दुःख के कारण नहीं होते। दोष दृष्टि, पर्याय दृष्टि – यह अनन्त दुःख के कारण हैं। रागादि दोष दुःख के कारण हैं और दोषों के अभाव के लिये प्रयास, सो प्रायश्चित है। जब दोषों को दुःख का कारण समझकर उसे दूर करने की भावना आती है तब प्रायश्चित तप का आरम्भ होता है और दोषों के अभाव के लिये निर्दोष पुरुषों की भक्ति करते हैं तो वे दोष मन्द होते हैं। निर्दोष वाणी को सुनकर दोषों से भिन्न निर्दोष स्वरूप को लक्ष्य करते हैं तो दोषों का अभाव होता है।

दोषों के अभाव के बिना विनय कैसे होगी? आपको दोष

दुःखरूप लगें, निर्दोष दशा आनन्दरूप लगे, सुखरूप लगे, तब उसकी प्राप्ति के लिये, विधि पूछने के लिये, समझने के लिये श्रीगुरु के समीप आयेंगे तो विनय आयेगी।

जैसे - जिसे धन की रुचि नहीं होती, उसे धनवानों के प्रति आदर नहीं होता। ज्ञान की रुचि न हो तो ज्ञानवानों के प्रति आदर नहीं होता; वैसे ही जिसे धर्म की रुचि नहीं होती, उसे धर्मात्माओं के प्रति आदर नहीं होता। जब रुचि हो तो आदर आवे। आदर और विनय एक ही है। जब रुचि जाग्रत होती है, निर्दोष स्वरूप दिखता है तब विनय होती है। प्रायश्चित बिना विनय नहीं, विनय बिना वैय्यावृत्ति नहीं और वैय्यावृत्ति बिना स्वाध्याय नहीं। स्वाध्याय बिना मूर्च्छा का त्याग नहीं, मूर्च्छा के त्याग बिना व्युत्सर्ग नहीं और व्युत्सर्ग बिना ध्यान नहीं, ध्यान बिना कर्मों का अभाव नहीं। ये तप शोधक अग्नि है।

तप के लिये हमें यह नहीं सोचना है कि तप कोई अलग होता होगा; यह स्वाध्याय भी आपका तप है, यह विनय का परिणाम भी आपका तप है। यह व्यवहार तप है, इनके माध्यम से हमारी परिणति अन्तर्मुख होवे, अन्तर्मुख होने पर स्वरूप में विश्रान्ति होती है तब इच्छायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। यह परमार्थ तप है। ऐसे परमार्थ तप की प्राप्ति के लिये हम सब पुरुषार्थ करें - यही भावना है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम त्याग धर्म

चरणानुयोग पद्धति से त्याग धर्म की चर्चा करते हुये पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं – ''जिन्होंने धन सम्पदादि परिग्रह को कर्म के उदय जनित पराधीन और विनाशीक, अभिमान को उत्पन्न करने वाला, तृष्णा को बढ़ाने वाला, रागद्वेष की तीव्रता करने वाला, आरम्भ की तीव्रता करने वाला, हिंसादि पाँचों पापों का मूल जानकर इसे अंगीकार ही नहीं किया वे उत्तम पुरुष धन्य हैं। जिन्होंने इसको अंगीकार कर, हलाहल विष समान जानकर जीर्ण तिनके के समान त्याग दिया उनकी भी अचिंत्य महिमा है।''

आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है, आत्मा त्याग और ग्रहण से शून्य है। नियमसारजी में मूल गाथा है ''निजभाव को कभी छोड़ता नहीं है आत्मा और परभाव को कभी ग्रहण नहीं करता है।'' प्रत्येक वस्तु का यही स्वरूप है कि वह निज भाव को नहीं छोड़ती और परभाव को ग्रहण नहीं करती। सोने को यदि अग्नि में तपाया जाए तो वह किट्ट कालिमा को तो छोड़ता है लेकिन पीलापन, भारीपन चिकनापन आदि को नहीं छोड़ता। एक बार चर्चा आई थी कि सोने का क्या भाव है? भाई! जब भाव की चर्चा होती है तो रुपया पैसा में चले जाते हैं। जिन भावों को बाजार के भाव कहते हैं वे तो विनिमय के साधन हैं। सोने का भाव अर्थात् सोने का स्वरूप। आत्मा का भाव अर्थात् आत्मा का स्वरूप। धर्म का भाव यानि धर्म का स्वरूप। स्वरूप को ही भाव कहते हैं। भाव यानि द्रव्य, भाव माने गुण, भाव माने पर्याय।

सोने को तपाये जाने पर जैसे सोना स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, ऐसे ही यह जीव, कर्म और देह की संगति होने से अनादिकाल से कर्म बन्धन सहित है, लेकिन कर्मरूप नहीं हुआ। कर्मोदय के कारण शरीरादि नये-नये संयोग मिलते हैं लेकिन आत्मा अपने आत्मत्व को, जीवत्व को नहीं छोड़ता, अचेतन नहीं हो जाता।

निज भाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे पर भाव नहिं।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही।।

ज्ञानी ऐसा देखते हैं, अनुभवते हैं, सविकल्प दशा में ऐसा विचारते हैं। ऐसी एक गाथा समयसारजी में है – '**ज्यों अग्नि तप्त सुवर्ण भी निज स्वर्ण भाव नहीं तजे।**' अग्नि से तपाये जाने पर भी सोना अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार कर्मोदय से तप्तायमान होने पर भी ज्ञानी अपने ज्ञान भाव को नहीं छोड़ता। त्यागोपादान शून्यत्व शक्ति का यही स्वरूप है कि वस्तु अपने स्वभाव, निजभाव को नहीं छोड़ती और परभावों को ग्रहण नहीं करती। जब ऐसा स्वरूप ही है तब त्याग का क्या अर्थ होगा? फिर त्याग धर्म के स्वरूप का निर्णय करना होगा।

जब वस्तु को ग्रहण ही नहीं किया तब त्याग कैसे? पंच परावर्तन को देखें तो अनादिकाल से इस जीव ने ऐसा कोई परमाणु नहीं है जिसे अनन्त बार ग्रहण नहीं किया हो और छोड़ा नहीं हो। यदि इसे परमार्थ दृष्टि से देखा जाये तो हम कह सकते हैं कि अनादिकाल से इस जीव ने परमाणु मात्र को ग्रहण नहीं किया, लेकिन लिखा तो है, जो लिखा है उसका भाव तो समझना पड़ेगा। वास्तव में ग्रहण नहीं किया, आत्मसात् नहीं

किया, वे परमाणु कोई जीव रूप नहीं हुये, जीव के परिणमन में कोई हस्तक्षेप करने लगे हों – ऐसा तो नहीं है। फिर ग्रहण का अर्थ क्या है? अनादिकाल से जीव ने ऐसा कोई परमाणु नहीं जिसे अभिप्राय में ग्रहण नहीं किया हो। अभिप्राय का अर्थ है – मान्यता में ग्रहण किया है। मोही और ज्ञानी में यह अन्तर है कि ज्ञान की स्वच्छता में जो पदार्थ जानने में आते हैं, मोही जीव तो उन पर–पदार्थों को अपना मान लेता है और इष्ट–अनिष्ट मान करके राग–द्वेष करता है, ज्ञानी जीव उन्हें ज्ञान में आते हुये भी भिन्न ही जानता है। जैसे चोर और साहूकार में क्या अन्तर है? शक्ल से कोई सम्बन्ध है इसका? ईमानदार और बेईमान में क्या अन्तर है, जो पड़ोसी का कोई सामान अमानत बतौर रखे जाने पर, अपनी तिजोरी में होने पर भी उसमें अपना कुछ नहीं मानता वह साहूकार है। चोर का अर्थ है – वह परवस्तु को दूर होने पर भी उसे अपना मानता है।

ज्ञानी वह है जो अपने को ज्ञायकरूप जानता है, ज्ञानमात्र अनुभवता है, परपदार्थ ज्ञान में आते हैं, उन्हें पर ही जानता है, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हुये भी उन्हें अपना नहीं मानता, पर ही जानता है, अपनी इच्छा के अनुकूल पुण्य के उदय में पदार्थों का परिणमन देखा जाता है, उन्हें भी वह स्वयं होता हुआ जानता है; उसके कर्तृत्व को नहीं ओढ़ता और अज्ञानी जो पदार्थ ज्ञान में आते हैं, जो पदार्थ इच्छा के अनुकूल परिणमित होने लगते हैं, उन्हें वह अपना ही मान लेता है और जो अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं हों, उन्हें भी मोह की दशा में अपना मान लेता है; ये मेरे शत्रु हैं देखो!

एक बात और कहें – जिनवाणी न पढ़ना, न सुनना, यह अपने साथ तो बहुत बड़ा धोखा है ही, अपराध है ही लेकिन जिनवाणी परलक्ष्य से सुनना, परलक्ष्य से पढ़ना वह भी अपराध है। जिनवाणी सुनकर भी यदि स्वलक्ष्य नहीं हुआ तब करने योग्य कार्य तो आपने नहीं किया।

जिनवाणी में जब आत्मस्वरूप की चर्चा आए तो ऐसा लगना चाहिए – ये मेरी बात है। छहढाला की पहली ढाल में किसका वर्णन है? किसके दुःखों की कहानी है?

''मोह महामद पिओ अनादि, भूल आपको भरमत वादि।
तास भ्रमन की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।।''

समयसारजी में भी मेरी कहानी है और छहढाला में जो दुःखों की कहानी है, वह भी मेरी कहानी है तो मेरी कहानी दो तरह की होगी? समझना! समयसारजी में जो स्वरूप दर्शाया है, वह सचमुच मेरी कहानी है। छहढाला में उस जीव की कहानी है, जो अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानी, मोही और दुःखी हो रहा है। अपने स्वरूप को भूलने से होने वाले दुःखों की कहानी है। पर्यायार्थिक नय से उसे हम अपनी कहानी कह सकते हैं, लेकिन वास्तव में देखा जाए तो क्या दुःख आत्मा का स्वरूप है? आत्मा में दुःख नहीं है और दुःख का कोई कारण भी नहीं है।

आत्मा तो शाश्वत सुखस्वरूप है। '**जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, शाश्वत सुखस्वरूप भगवन्त**' सच्ची बात तो यही है। आत्मा और दुःखी और दुःखी सो आत्मा? दुःखी तो बहिरात्मा होता है, जो अपने को भूलता है। आत्मा में दुःख होता नहीं

और जो अपने को आत्मा अनुभवता है – ऐसा ज्ञानी दुःखी होता नहीं। दुःखी तो वह होता है जो अपने को आत्मा नही अनुभवता, अन्य रूप देखता है।

परपदार्थ ज्ञान में भासित हुये और उन्हें आपने अपना मान ही तो लिया है। अपना मानने पर भी अपने तो नहीं हो गये! तो ग्रहण करने का अर्थ क्या? कोई शास्त्र लाया आपके लिये, लो भाई! ग्रहण करो। तो ग्रहण कैसे करोगे? हमने कहा लाओ भाई! अच्छी बात है। ग्रहण करने का अर्थ है कि अपना मान लिया कि यह हमारा है। अपने अभिप्राय में ही तो माना कि हमने ग्रहण कर लिया। अपना मानने पर भी वह अपना तो हुआ नहीं। एक परमाणु मात्र को ग्रहण करने की शक्ति किसी द्रव्य में नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से अपने-अपने धर्मों से आपूर्ण, परिपूर्ण है। जहाँ तक आत्मा की चर्चा है तो आत्मा को विज्ञानघन कहा। घन को आप जानते ही है, सुई की नोंक भी नहीं घुसेगी।

ऐसे इस विज्ञानघन आत्मा में परद्रव्य तो बहुत दूर, परद्रव्यों को अपना मानने वाला मोहरूप परिणाम, परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्टरूप मानने पर होने वाले राग-द्वेष के परिणाम और उनसे होने वाला दुःख भी उस आत्मा में प्रवेश नहीं पाते। समयसारजी की टीका की भाषा में कहें तो ये ऊपर-ऊपर लोटते हैं, बाहर-बाहर तैरते हैं, भीतर प्रवेश नहीं पाते।

अभिप्राय में पर को अपना माना इसका नाम है ग्रहण! अब त्याग कहाँ होगा? अभिप्राय में उससे अपनत्व छूट गया उसका नाम त्याग! वस्तु जहाँ थी वहाँ है।

किसने कहा निकल तू घर से, महल अटारी छोड़ दे,
जो कुछ जहाँ वहीं रहने दे, केवल दृष्टि मोड़ दे।
बिन छुटवाये सभी छुटेगा, डाल न बेड़ी पाँव में,
यहाँ कहाँ आ फँसे बटोही, तुम ऐसे इस गाँव में।।

पुराणों में कथा आती है – वारिषेण मुनि अवस्था में पुष्पडाल के स्थितिकरण के लिये अपने महल में आये। चेलना रानी से कहा – माता! अपनी बहुओं को बुलाओ। चेलना रानी ने सोचा पुत्र कहीं चलायमान तो नहीं हो गया। दो आसन डाल दिये, एक स्वर्णासन और एक काष्ठासन। वारिषेण तो काष्ठासन पर बैठ गये और पुष्पडाल को स्वर्णासन पर बैठाया। अपनी बहुओं को बुलाओ। पुष्पडाल से कहा बोलो! कोई मंशा हो तो यहीं रह जाओ। धिक्कारने लगे पुष्पडाल स्वयं को! वारिषेण अपने घर में आने पर भी त्यागी थे या रागी थे, त्यागी थे! और आप यहाँ बैठे हैं, घर कितनी दूर है, तब त्यागी हो गये क्या कुछ? विचारना जरा! गृहत्यागी तो हो गये जरा? अरे! नहीं हुये न! बाहर का घर तो बाहर ही रहता है, यह मेरा घर है – ऐसा यहाँ मान्यता में बसा हुआ घर जब छूट जाये! अपने घर का भान हो जाये और उस घर में जब अपनत्व छूटे तब गृह त्यागी कहलायेगा।

आपको मालूम है कि नाव तो पानी में रहती है, नाव के चारों ओर कितना भी पानी हो, लेकिन नाव नहीं डूबती। डूबती है तो भीतर के पानी से।

नाव रहे पानी में लेकिन, नहीं डूबने पायेगी।
यदि नाव में पानी आया, सबको ले डुबायेगी।।

'पानी में नाव, नाव में पानी' एक ही बात नहीं है भाई!

ऐसे स्त्री–पुत्र कुटुम्बादि को आचार्य महाराज ने संसार नहीं कहा। अपने स्वभाव से खिसकने वाला जो परिणाम, उनके प्रति ममत्वादि के परिणाम, उसका नाम संसार है। विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं और संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त हैं। कौन–से द्रव्य का नाम परिग्रह है। यह चौकी पर है या परिग्रह है? यह कपड़ा, रुपया, मकान, दुकान पर हैं या परिग्रह हैं? स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि पर हैं या परिग्रह हैं? विचारना! जिसके अन्तर में उनके प्रति मूर्च्छा भाव है तो वह मूर्च्छाभाव अंतरंग परिग्रह है, और मूर्च्छा का निमित्त बहिरंग परिग्रह है। अन्तरंग और बहिरंग का मेल समझ में आया! परिग्रह का निमित्त भी परिग्रह कहने में आता है। जब मूर्च्छा टूट गई तब सामने जो वस्तु है, वह परिग्रह नहीं है।

वारिषेण मुनिराज के लिये वही महल है, वे ही रानियाँ हैं, वे सब पर हैं या परिग्रह हैं? पर है तो क्यों? जब स्व पर दृष्टि है तो वे परद्रव्य पर दिखाई देते हैं और जब स्व को भूलेंगे तो वे ही परद्रव्य परिग्रह हो जाएँगे। '**मूर्च्छा परिग्रहः**' मूर्च्छा का अर्थ है – अपने को भूल गया, बेहोश हो गया। उसे होश नहीं है कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या है? सच बात यह है कि अभिप्राय में उसने ग्रहण किया है, उसने भावों में अपना मान लिया है, तो भावों में ही ग्रहण है और भावों में ही त्याग है, वस्तु तो जहाँ है वहाँ है। यह शरीर पर है या परिग्रह है? जो अपने को आत्मा अनुभवते हैं, शरीर की मूर्च्छा टूट गई है, उनके लिए शरीर पर है और जो अपने को आत्मा नहीं मानते, शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उनके लिये भी शरीर है तो पर ही लेकिन मोह होने से वह शरीर परिग्रह हो गया। फिर मेरी स्त्री, मेरा घर, मेरे

बच्चे, ये मेरा-मेरा किया, जो मेरापन स्थापित किया वह भीतर का परिग्रह है और जिन पर आरोप करके जो संयोग है उनको भी परिग्रह कहा और जब मूर्च्छा टूट गई तो जो पर है वह पर रह गया। पर था इसलिये पर रह गया। भाई! बाहर के परिग्रह से जीव परिग्रही नहीं होता और केवल बाहर का परिग्रह छूटने मात्र से जीव अपरिग्रही नहीं होता।

एक मुनिवर आत्मध्यान में विराज रहे हैं। सर्दी की रात्रि होने को थी एक ग्वाला पशुओं को चराकर लौट रहा था। ओहो इतनी ठण्ड! अभी तो रात्रि को ठण्ड और बढ़ेगी, कोहरा पड़ेगा, इनका क्या होगा? वह जल्दी दौड़कर गया - एक चादर मोटी-सी लाकर डाल दी करुणा बुद्धि से। अब बतायें वे मुनिवर परिग्रही हुये या नहीं? नहीं हुये। क्यों चादर ओढ़े हैं? यदि उनके मन में यह विकल्प आ जाए - चलो अच्छा हुआ, हमने तो कुछ कहा नहीं। ठण्ड भी बहुत है। बस उसी समय परिग्रही हो गये। यदि यह विकल्प नहीं आया, बैठे रहे, अपने को चैतन्य स्वरूप, निरावरण स्वरूप अनुभवते रहे, यह विचारते रहे कि यह तो उपसर्ग है तो वह चादर परिग्रह नहीं हुआ। यह बात तो जल्दी समझ में आ गई, लेकिन मुनिराज को यदि यह विकल्प आ जाये कि कैसा मूर्ख है इसे मालूम नहीं है कि मुनि चादर नहीं ओढ़ते; कोई देखेगा तो क्या कहेगा? परिग्रह हो गया! कोई कहेगा इसमें क्या परिग्रह हो गया? यदि ये विकल्प आ जाए जब तक कोई देख न पाये तब तक मुझे इस चादर को उतार देना चाहिए। बोलो परिग्रह हुआ कि नहीं? कौन सा परिग्रह हुआ? द्वेष का परिग्रह हुआ।

अंदर में मोह, राग, द्वेष का भाव, अंतरंग परिग्रह है और

बाहर में वह वस्तु, बहिरंग परिग्रह है। यदि राग, द्वेष, मोह के भाव नहीं आए तो वह परिग्रही नहीं है, त्यागी है और यदि पर-वस्तु में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करने लगे, तो परिग्रही हैं। त्याग कहाँ होगा, किसका होगा? जो दुःख का कारण है, उसका त्याग होगा। जो सुख का कारण है उसका ग्रहण होता है। लौकिक व्यवहार में भी ऐसा ही होता है। सुख का कारण क्या है? अपने आत्म स्वभाव को ग्रहण किया, बस सुखी हो गये। कैसे ग्रहण करेंगे उस आत्मस्वभाव को?

समयसारजी की मोक्ष अधिकार में गाथा है - '**कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत**' आत्मा का अनादिकाल से अपने समीप रहने पर भी ग्रहण नहीं हुआ। 'ग्रहण नहीं हुआ' का अर्थ यह कि 'मैं आत्मा हूँ' - ऐसा अनुभव नहीं हुआ। ऐसे ही परपदार्थ, उनके दूर होने पर भी उनका त्याग नहीं हुआ, ये मेरे नहीं हैं, पर हैं, ऐसा नहीं जाना। अब त्याग कैसे करना है? इसी गाथा की शैली में बोलें तो 'कर त्याग प्रज्ञा से' अरे! ज्ञान में उसे अपना माना था अब जान लो कि ज्ञायक है, वह तो मैं ही हूँ। '**अवशेष जो सब भाव हैं, भिन्न मुझसे जानना।**'

पर को अपना मानना ग्रहण है, पर को पर जान लिया, इसका नाम त्याग है। उत्तम त्याग धर्म क्या है? उत्तम का अर्थ है - आत्मा, उत्तमार्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान! जब अपने आत्मा को ग्रहण किया तो आत्मा हो गया धर्मी और त्याग हो गया धर्म! आत्म स्वभाव का ग्रहण होने पर, पर को आत्मा मानना छूट गया और जब अनात्मा को आत्मा मानना छूट गया तो उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी छूट गई और जब इष्ट-अनिष्ट की

कल्पना छूट गई तो उससे होने वाला राग-द्वेष जनित दुःख भी छूट गया। वह त्याग धर्म है।

परद्रव्यों का त्याग कहना तो असद्भूत व्यवहार नय का विषय है, परभावों का त्याग कहना भी असद्भूत व्यवहार नय का विषय है, परभावों का त्याग भी उपचरित कथन है। सच पूछो तो अपने को अपना जाना तो पर का त्याग हो गया। **आत्म स्वभाव को जाने बिना त्याग के विकल्प तो होते हैं, परन्तु विकल्पों का त्याग नहीं होता। त्याग का मोह तो होता है, मोह का त्याग नहीं होता। पहले मानता था कि मैं गृहस्थ हूँ, अब मानने लगा कि मैं त्यागी हूँ। अरे! त्यागी किसे**
· ¤ãÌ ðãä Áô¥ ÂÙð· ¤ô ™ãâØ· ¤¥ ÙÖë ßÌ æãñ ßãÜ ˆØãæ èãÐ

त्याग करने के पहले त्यागने योग्य क्या है? पहले यह समझना चाहिये। ग्रहण करने के पहले ग्रहण योग्य को समझना चाहिये। त्यागने योग्य क्या है? जो हमारे लिये दुःख के कारण हैं, ऐसे मोह-राग-द्वेष, क्रोध, मानादि भाव त्यागने योग्य हैं। अब बतायें उनका त्याग कैसे होगा? धर्मी के आश्रय बिना धर्म कैसे होगा? हमने सोच लिया कि ये परद्रव्य हैं। किसके बल से कहते हो ये परद्रव्य हैं? अगर देखा-देखी, सुनकर या पढ़कर कहने लगे, मन्द उदय में थोड़ा सा विचार कर लिया, कह दिया, इतने मात्र से तो वे नहीं छूट गये, उनका त्याग नहीं हो गया।

एक बच्चे की माँ खो गई मेले में। एक सज्जन ने उस बच्चे को महिलाओं की ओर छोड़ा और कहा अब अपनी माँ को खोज ले! अब वह हरेक महिला की ओर देखता है, जिनकी शक्ल सूरत, आकार प्रकार माँ से मिलता ही नहीं है उनकी ओर

तो देखता ही नहीं है लेकिन शक्लादि थोड़ी सी मिलती भी है, उनको देखता है और देखकर दृष्टि हटा लेता है, फिर रोने लगता है। यह मेरी माँ नहीं है, यह किस बल पर कह रहा है। माँ का वियोग तो हुआ है, लेकिन उसके ज्ञान में माँ का रूप है या नहीं? और जिसे अपनी माँ का रूप ही पता नहीं है और वह कहता रहे कि ये मेरी माँ नहीं है, तो उसका कहना यथार्थ नहीं है।

इसीप्रकार जिसके ज्ञान में अपना स्वरूप बस गया है तो वह कहता है कि ये परद्रव्य मेरे नहीं हैं, तो उसका कहना सच्चा है और जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है और वह कहता रहे कि परद्रव्य मेरे नहीं हैं, तो उसका कहना यथार्थ नहीं है।

परपदार्थों को भी आप अपना कब तक मानते हैं जब तक आपको अपना परिचय नहीं था, पर में अपनत्व का कारण परद्रव्य नहीं है, पर में अपनत्व का कारण स्वयं की पहिचान नहीं होना है। इसलिये पर में अपनत्व तब तक नहीं छूटता, त्याग का प्रारम्भ तब तक नहीं होता जब तक यह जीव अपने को नहीं पहिचानता! जब अपने को पहिचाने तब मिथ्यात्व का त्याग हुआ, मोह का त्याग हुआ, नहीं तो त्याग का मोह हो जाता है।

इसीप्रकार आत्मा के भान के बिना जीव को क्रोध का त्याग नहीं होता, त्याग के नाम पर क्रोध आता है। हे भाई! अन्तर में सन्तोष नहीं, अन्तर में उसप्रकार के रागादि टूटे नहीं और बाहर का त्याग हमने शक्ति का विचार किये बिना अधिक कर दिया! बाद में समझ में आया, विपरीत परिस्थिति बनी और पाप का उदय आ गया, दो दिन का भूखा! उसके बाद भोजन करने बैठा

और अन्तराय आ गया तो क्रोध में बोला 'इतना नहीं समझते! कैसे करते हो, क्या आँखें फूट गई हैं?' यह क्या है? त्याग का क्रोध या क्रोध का त्याग! अज्ञानी को त्याग का क्रोध आता है और ज्ञानी को क्रोध का त्याग हो जाता है। स्वयं को ज्ञानमय अनुभवने पर ज्ञानी विचारता है कि इसमें इनका क्या दोष है? इन परमाणुओं की ऐसी ही योग्यता थी। भोजन में कभी किसी को अन्तराय नहीं हुआ क्या? कभी-कभी तो हो ही जाता है।

अन्तराय किसका नाम है - यह तो बतायें? किसी भी वस्तु में पर्यायों का प्रवाह अनादि-अनन्त चलता रहता है, एक समय के लिये भी रुकता है क्या? अन्तराय यह हुआ कि हम उस भोजन को पेट में रखना चाहते थे लेकिन उस भोजन को गाय या कुत्ता के पेट में जाना था। हमने मान लिया कि हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं परिणमा तो अन्तराय हो गया। परिणमन रुकता है क्या? द्रव्य में पर्यायों का प्रवाह एक क्षण के लिये भी रुक सकता है क्या? द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता, फिर भी द्रव्य पर्यायरूप नहीं होता और पर्याय द्रव्यरूप नहीं होती, अतद्भाव बना रहता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने का प्रयोजन यही है कि पर्याय को जानकर पर्यायदृष्टि छोड़ें, गुणों को जानकर अपनी महिमा लायें। महिमा लाने के लिये गुणों का ज्ञान आवश्यक है। गुणों का ज्ञान होने पर हमें उस वस्तु के प्रति आकर्षण होता है, इसलिये गुणों को जानकर अपनी महिमा लाना और द्रव्य को जानकर उसका आश्रय करना, पर्याय को जानकर पर्याय का आश्रय छोड़ना। हमने सोच लिया कि अकेले आत्मा से या

अकेले ज्ञान से क्या होता है। भाई! ज्ञान अकेला होता ही नहीं है। ज्ञान-मात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। जब ज्ञान-मात्र में आत्मा का अनुभवन होता है तब अनन्त शक्तियों का निर्मल परिणमन होता है।

जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सुख होता है, प्रभुता होती है, बल होता है। यदि अरहन्त भगवान का एक लक्षण कहें तो सर्वज्ञता को कहेंगे, दो कहना हो तो वीतरागता और सर्वज्ञता कहेंगे और यदि तीन कहना हो तो वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशी कहेंगे, चार कहना हो तो अनन्त चतुष्टय कहेंगे। ज्ञान अकेला नहीं होता, ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, मुख्य लक्षण है। ज्ञान में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। छहढालाकार तो कह रहे हैं कि '**सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहै हैं।**' भगवान ऐसा कह रहे हैं, आचार्य महाराज ऐसा कह रहे हैं - यह सब ज्ञान की ही महिमा है। जब ज्ञान स्वभाव आत्मा का ग्रहण हुआ तब क्रोधादि कषायों का त्याग हुआ। ज्ञानी को मान का त्याग होता है। आत्मज्ञान बिना तो त्याग का मान होता है। '**मान करन को कौन ठिकाना?**' अरे भाई! स्वयं को किससे बड़ा मान रहे हो? निगोद के जीव में एक भी शक्ति कम नहीं है और तेरे में एक भी शक्ति अधिक नहीं है। संयोगों से अपने को बड़ा-छोटा मान लेना, यह तो विवेक की कोई बात नहीं है।

कषायों में ज्ञान नहीं होता। राग में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में राग नहीं है। विचार करो कि त्याग धर्म किसका नाम है? परभावों से शून्य ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपना चैतन्य आत्मा जब निजरूप से भासित होता है तब मिथ्यात्व का त्याग होता

है। आत्म भावना भाते-भाते अपने में तृप्त हो गया, सन्तुष्ट हो गया और परभावों का त्याग हो गया।

जो तृप्त होता है, वही त्यागी होता है। जो तृप्त नहीं है वह त्यागी नहीं है। जो सन्तुष्ट है वह सुखी है। अब सुखी किसके बल से होगा? समयसारजी में भी कहा है - इच्छावान परिग्रही है और जो इच्छावान नहीं है, वही तो त्यागी है। ये लौकिक त्याग की चर्चा नहीं है, यह तो पारमार्थिक उत्तम त्याग धर्म की चर्चा है। परमार्थ दृष्टिपूर्वक इस त्याग धर्म को समझें और त्याग धर्म को प्रगट करने के लिये धर्मी आत्मा का आश्रय करें। धर्मी आत्मा का आश्रय करने से जब तृप्ति होती है, सन्तोष होता है, आनन्द और प्रभुता होती है तब त्याग होता है, सहज त्याग! **'ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जग माँहि सहज वैरागी।'** ऐसा परमार्थ त्याग जिनके अन्तर में प्रगट हुआ उनके जीवन में रागांश के उदय से ऐसा भाव आता है कि आत्मा की आराधना में सब जीव लग जायें, इसी मार्ग में सब लग जावें '**मज्जंतुनिर्भर-ममीसममेवलोका**' इस मार्ग की प्रभावना का भाव आता है कि तन, मन, धन, समय, शक्ति, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, समग्र लग जावें। **'पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।' अरे! हम तो नहीं कर पा रहे हैं, ये तो उत्कृष्टपने से कर रहे हैं, इन्हें तो अपने शरीर की भी फिक्र नहीं है। इनका शरीर आराधना के योग्य बना रहे।**

सत्पात्रों को यथायोग्य भक्तिपूर्वक और दीन-दुखियों को करुणापूर्वक आहार देने का भाव होता है। रोग होने पर, अरे! इनकी आराधना में विघ्न न हो, अभी रागांश का उदय है,

इसलिये इन्हें औषधि लेने का भाव आता है, अतः ज्ञानी औषधि दान भी करते हैं।

निराकुल होकर धर्मध्यान करे वह अभय दान है और ये अपने आत्म स्वरूप में मग्न होने के लिए अपने को सम्बोधे और पर को भी सम्बोधे। यह ज्ञान दान है। इनको उपकरणों का दान देना, दिलाना, अनुमोदन करना, दे करके अपना जीवन सफल मानना चाहिए। यह चरणानुयोग की भाषा है। दान देते हुये अपने जीवन को, गृहस्थपने को सफल मानना, निस्पृह भाव से देना, बाहर में श्रावक की भूमिका में भी निस्पृह भाव से, हर्ष भाव से देना चाहिए, अहसान और अभिमान से नहीं! भेदज्ञान से और विनय से सत्पात्रों को देना, वह तो धन्य भाग्य है।

सत्पात्रों को निर्विघ्न दान हो जाना तो ऐसा है मानो अपने आँगन में कल्पवृक्ष फल गया हो! दीन-दुखियों को भी इस प्रकार से देना चाहिए कि जिससे उनके स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचे! अहसान करने की दृष्टि से दान नहीं देना चाहिए। श्रावकाचार में लिखा है कि - दानादि देते समय ज्ञानी धर्मात्मा तो पात्रों का उपकार मानते हैं, कि ये हमारे रागादिक की निवृत्ति में निमित्त हुये! ये हमें परिग्रह पंक से निकालने में निमित्त हुये! अरे! कोई प्रेरणा भी करे और हम दानादि देवें तो भाई! तुम्हारी प्रेरणा से हम इस परिग्रह से बच गये!

कमाना मजबूरी है, लेकिन दान देना जरूरी है और त्याग करना धर्म है, लेकिन जब अपने को आत्म दृष्टि से देखा जाए तब त्याग धर्म होगा, नहीं तो व्यवहार त्याग भी पुण्य है। दान देने में भी सच पूछो तो दूसरों को नहीं दिया जाता, दान

भी अपने को ही दिया जाता है। जैसे भारतीय संस्कृति में शीलवती नारी पति को भोजन कराने के बाद भोजन करती है, ऐसे ही श्रावक को मुनिभुक्त शेष भोजी कहा है।

तीर्थ की प्रवृत्ति में भी समझना चाहिये कि धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति तो ऋषभदेव के द्वारा बाद में हुई पहले दानतीर्थ की प्रवृत्ति राजा श्रेयांस के द्वारा प्रारम्भ की गई। कभी-कभी हम पक्षपात से ऐसा सोचने लगते हैं कि इसमें क्या है? ज्ञान दान बड़ा है, अरे भाई! कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। ज्ञान दान अपनी जगह है, आहार दान अपनी जगह पर है, औषधि दान अपनी जगह पर है। बीमार आदमी को कहें कि रोटी खा लो, पूड़ी खा लो! अरे! उसे कड़वी औषधि चाहिये। विचार करो आज अपन लोग इतने यहाँ बैठे हैं, यदि भोजन बन्द कर दिया जाये, तो सोचें! विचार करें जरा! छोटे-बड़े की बात मत करो! इन पत्थरों में पैसा क्यों लगायें? ऐसा मत कहो! ये भी चाहिये, लेकिन लक्ष्य यह होना चाहिये कि ज्ञानाभ्यास पूर्वक आराधना के लिये दान हो! जब ज्ञानाभ्यास पूर्वक ज्ञानाराधना के लिये रुचि पूर्वक किया जाता है, तब वह दान कहा जाता है। यह हमारा कथन असद्भूत व्यवहार नय का है, इसको यथायोग्य समझना चाहिये।

दान के प्रसंग में एक ही बात है कि अपनी विशुद्धता बढ़ाने के लिये जो दान अन्तर्मुख होकर स्वयं को देता है, वही निश्चय दान है। पर को देने-लेने की व्यवस्था सचमुच में नहीं है। पर को देने-लेने का जो विकल्प है, वह व्यवहार है। साधर्मी, साधर्मी का उपकार करते हैं और कराते हैं। पण्डित टोडरमलजी

ने लिखा है कि - धर्मात्मा, धर्मात्माओं को धर्म मार्ग में सहायक होते हैं। भूमिका के अनुसार ये भाव आते हैं, ज्ञानी धर्मात्माओं को सहज आने पर भी उनमें उपादेयता नहीं होती है। उनके अन्तर में भेदज्ञान वर्तता है कि ये क्रिया स्वतंत्र है और मेरा परिणाम स्वतंत्र है, मैं तो ज्ञान-मात्र हूँ। उस बल से दानादि करते हुये भी उनमें अभिमानादि के भाव नहीं आते और अल्पकाल में वे जीव अपने स्वरूप की आराधना करते हुए सब परभावों से शून्य, चैतन्य पद को प्राप्त करते हैं।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्म स्वरूप।

❖❖❖

उत्तम त्याग धर्म - सार

1. तृप्त ही त्यागी होता है। जो स्वयं में तृप्त है वही त्यागी है।
2. ज्ञाता स्वरूप की आनन्दमय अनुभूति होने पर परिणाम पर की ओर नहीं जाता, वह उत्तम त्याग धर्म है। ऐसा त्याग का स्वरूप मात्र जिनशासन में कहा है।
3. धन की सार्थकता पात्रदान से है। जीवन की सार्थकता तत्त्वज्ञान से है।
4. आत्मा को समझने पर मोह का त्याग होता है और आत्मा को समझे बिना त्याग का मोह होता है।
5. एक स्वभाव के ग्रहण में समस्त परभावों का त्याग हो जाता है।
6. परभावों का त्याग भी पराश्रय से नहीं होता स्वाश्रय से होता है।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

उत्तम आकिंचन्य धर्म की चर्चा करते हुये पण्डित सदासुखदास जी लिखते हैं - **अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप के बिना अन्य किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं।** जिनके आकिंचनपना होता है, उनको शुद्धात्मा के विचार करने की शक्ति प्रकट होती है, उनकी पंचपरमेष्ठी में भक्ति होती है, दुष्ट विकल्पों का नाश होता है, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नष्ट हो जाती है, राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। समस्त धर्मों में प्रधान धर्म आकिंचन्य धर्म ही मोक्ष का निकट समागम कराने वाला है। अनादिकाल से जितने भी सिद्ध हुए हैं, आकिंचन्य धर्म से ही हुये हैं तथा आगे भी जो भी तीर्थंकर व सिद्ध होंगे वे आकिंचन्य धर्म से ही होंगे।

आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञान स्वभाव के अतिरिक्त परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है - ऐसा समझना सम्यग्ज्ञान है और ऐसा समझकर पर से विरक्त होना आकिंचन्य धर्म है और ज्ञान स्वभाव में लीन होना ब्रह्मचर्य है। आकिंचन्य धर्म का दूसरा नाम निर्ग्रन्थ धर्म है। आकिंचन्य या निर्ग्रन्थ एक ही बात है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है - ग्रन्थ का अभाव। ग्रन्थ का अर्थ - शास्त्र नहीं लेना चाहिये।

ग्रन्थ परिग्रह को कहते हैं। ग्रन्थि गाँठ को कहते हैं, जिसकी मोह ग्रन्थि खुल गई है, जिसे परमाणु मात्र भी अपना भासित नहीं होता, उसे आकिंचन्य धर्म होता है। ग्रन्थि या गाँठ कहते किसे हैं? गाँठ या ग्रन्थि जो दो को जोड़े, उसे ही तो गाँठ या

ग्रन्थि कहेंगे - रस्सी छोटी हो गई, इसमें एक टुकड़ा और जोड़ दो, लेकिन यह गाँठ तो खुल जाती है, कंगन (विवाह के समय होने वाला गठबंधन) की गाँठ भी खुल जाती है, लेकिन अन्तर की मोह ग्रन्थि जीवन भर बनी रहती है, कब तक बनी रहती है? जब तक यह ज्ञानाभ्यास नहीं होता, विरक्तता नहीं होती, तब तक ग्रन्थि बनी रहती है।

यह मेरा पति है, मैं इसकी पत्नी, ये मेरी पत्नी, मैं इसका पति। जैसे दो को जोड़ने वाली यह ग्रन्थि होती है, ऐसे दो द्रव्यों को एक मानने वाली मोह ग्रन्थि होती है। दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध व भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध मानना यह मोह ग्रन्थि है। कैसी अद्‌भुत बात है जो पर का स्वामी बनना चाहता है, पर को अपना मानता है, उसे धिक्कार मिलता है, वह चार गतियों में रुलता है, वह पर का स्वामी नहीं हो पाता, वह छोड़कर चला जाता है।

राजा, भूपाल, भूमिपाल, भूस्वामी, भूपति - ये सब राजाओं को देखकर पृथ्वी हँसती है। '**चर्चा-संग्रह**' ग्रन्थ में आया है कि राजाओं को देखकर पृथ्वी हँसती है। देखो! यह अपने को मेरा स्वामी मान रहा है। इस जैसे न जाने कितने राजा हो गये और वे राजा कहाँ चले गये? शरीर की दृष्टि से देखा जाए तो भूमि में ही समा गये, माटी का खिलौना माटी में मिल गया।

वैद्यों को, डॉक्टरों को देखकर मौत हँसती है, है कोई दवाई, है कोई इलाज! शरीर के बुखार आदि रोग भी असाता कर्म के उदय से आते हैं और साता के उदय से जाते हैं, बाहर की औषधि तो निमित्त मात्र है, हमने तो जीवन में भी देखा, बाहर

भी देखा। औषधि से रोग नहीं मिटते, जब रोग मिटते हैं उस काल में औषधि निमित्त होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर ऐसा होता है – जैसे कोई पागल से सयाना हो जाए, सोते से कोई जाग जाए! मोहीजन तो क्या? धर्मात्मा श्रावक भी औषधि का सेवन करते हैं। औषधि दान भी होता है। धर्मात्मा, धर्मात्मा को औषधि का दान देते हैं। मुनिराज भी औषधि दान लेते हैं। हमने जो कहा है कि औषधि से रोग नहीं मिटते – यह हम परमार्थ नय से कह रहे हैं और औषधि से रोग मिटते हैं – यह व्यवहार नय का कथन है। अपनी इतनी थिरता नहीं है, सहनशीलता नहीं है, शक्ति नहीं है।

जिनका उपयोग अपने स्वरूप में रमता है और जिन्हें तीन कषाय चौकड़ी मिट गई, सचमुच उन्हें रोग होने पर औषधि लेने का विकल्प भी नहीं आता। रोग मिटने का काल जब निकट आता है, तब श्रावकों को उनके सम्बन्ध में औषधि का विकल्प आता है, मुनिराजों को नहीं आता और जिन्हें एक चौकड़ी अथवा दो चौकड़ी कषाय मिटी है, उन्हें भी अभक्ष्य औषधि लेने का भाव नहीं आता। मतलब यह है कि रोग होने पर अपना उपयोग अन्तर में नहीं होने से ज्ञानी धर्मात्माओं को भी औषधि आदि लेने का भाव होता है। भाव ही नहीं होता बल्कि उसका बुद्धिपूर्वक प्रयत्न भी करते हैं, लेते भी हैं, फिर इसको पढ़ने से फायदा क्या है? फायदा यह है कि औषधि का योग न बनने पर अधीरता नहीं होती। औषधि मिलने पर भी यदि वह रोग उस समय नहीं मिटता तो ऐसा नहीं विचारते कि "कैसी दवाई देते हैं, कैसे डॉक्टर है, कैसे लोग हैं? समझ में नहीं आता!

कोई हमारा इलाज नहीं कराता।" इसप्रकार की दोष देने की जो वृत्ति है, आकुलता-व्याकुलता है, परिणामों की तीव्रता है, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता है, ज्ञानी को ये सब बातें नहीं होती!

तत्त्वज्ञान का फल धीरता है। धीरता, उदारता, अनाकुलता - ये शान्त नृत्य के आभूषण हैं - ऐसा समयसारजी में कहा है।

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे,
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे।

सच्ची बात है, लेकिन आगे यह नहीं लिखा है कि काहे करे पुरुषार्थ रे! बल्कि यह लिखा है - काहे होत अधीरा रे! पुरुषार्थ का निषेध नहीं लिखा। **जब कार्य होने की योग्यता होती है, उस समय कार्य सम्बन्धी योग्य पुरुषार्थ होता ही है, कार्य भी निश्चित है, कार्य का काल भी निश्चित है, कार्य का योग्य पुरुषार्थ भी निश्चित है, कार्य के निमित्त भी निश्चित हैं। अकेला एक ही थोड़ा निश्चित है, जिस द्रव्य का, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस भावरूप से, जिस विधान से - ऐसा कहने से और सब बातें उसमें गर्भित हो गई। होना है वह होता है, उसे केवली परमात्मा जानते तो हैं, लेकिन उसे बदल नहीं सकते; उन्हें बदलने का विकल्प भी नहीं आता। आचार्य भगवन्त उपदेश तो देते हैं, परन्तु उन्हें मनवाने का विकल्प नहीं आता।**

पण्डित बनारसीदासजी लिख गये, मानी तो शाबाश! नहीं मानी तो तेरा द्रव्य इसीप्रकार परिणमित हुआ, हम क्या करें? और **आप भी मानने वाले कौन होते हैं?** उस समय की योग्यता से ही सारे काम होते हैं। हम यह नहीं कहें कि लड़का

हमारी बात नहीं मानता। इस बात को कभी प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाना चाहिये। कौन माने कौन मनवाये! सचमुच तो -

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता।।

- अष्टसहस्री, पृष्ठ-257

जैसा होना होता है, उसकी उसीप्रकार की बुद्धि हो जाती है, उसीप्रकार सब सहायक बन जाते हैं, वैसे ही सब उद्यम होते हैं, बुद्धि, उद्यम और निमित्त सब उसीप्रकार के बन जाते हैं। बुद्धिपूर्वक कभी-कभी अपने जीवन में अपन देखते हैं, जो काम कभी सोचते भी नहीं हैं, वह कार्य कैसे भी हो जाते हैं, अपन सोच भी नहीं पाते और अपन कर बैठते हैं। हम तो कई बार यह विचारते हैं कि परिणमन में गलती मानना ही गलती है। परमार्थ से देखा जाये तो परिणमन होता है और हमें अगर धर्म बुद्धि है तो यदि आगम के अनुकूल परिणमन नहीं हो तो गलती लगती है और यदि मोह की दशा हो तो आगम में जिसे गलती कहा है, वह गलती भी गलती नहीं लगती।

तात्पर्य यह है कि श्रावक दशा में औषधि लेने के भाव होते हैं। लक्ष्मी कमाने के, व्यापार करने के भाव होते हैं, लेकिन अनन्तानुबंधी कषाय जिसकी चली गई उसको अन्याय से कमाने के या कमाते रहने के भाव नहीं होते। उन्हें अपना जीवन बहुत दुर्लभ लगता है, उन्हें लगता है कि अपना हित कर लेना चाहिये।

मोह की दशा में ऐसा होता है कि लगे रहो और हम अन्तिम क्षण तक यह नहीं सोच पाते कि हमारा क्या स्वरूप है, हम कहाँ जाएँगे, कहाँ से आये हैं, हमारा क्या लक्ष्य है, कहाँ जाना

है? आत्म स्वभाव के बल से ज्यों-ज्यों विज्ञानघन होता जाता है, त्यों-त्यों कमाने के भाव मंद होते जाते हैं और गृहस्थ की भूमिका में ही आठवीं प्रतिमा में तो आरम्भ छूट ही जाता है, एकदम नियम पूर्वक त्याग हो जाता है। इसके पहले भी बहुत भावना होती रहती है, बहुत लोग अभ्यास करते रहते हैं। सोचते हैं कि अब छोड़ें और लग जाएँ इस मार्ग में! कहाँ से आई यह भावना! ज्ञान-दर्शन स्वभाव के अतिरिक्त मेरा परमाणु मात्र नहीं है। यह वस्तु का स्वभाव है। अनेकान्त स्वरूप से कहें तो प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप है।

यह निर्ग्रन्थ धर्म आकिंचन्य स्वरूप है। स्वरूप तो सबका ऐसा है, लेकिन मोही जीव पर को अपना मानता है, वे द्रव्य अपने मानने पर भी उनके होते नहीं हैं। अपना ही अपना है, परद्रव्य कहीं अपने नहीं हो जाते। कर्त्ता मानने पर भी उनका कर्तृत्व चलता नहीं है। यदि आप मानते हैं कि हम ही कर्त्ता हैं, हम करेंगे तो होगा - सो ऐसा तो नहीं है। छह खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती - बत्तीस हजार राजा जिसके चरणों में नमस्कार करते हैं, छह खण्ड में जिसकी आज्ञा चलती है। पुण्य है, लेकिन चक्रवर्ती भी यह चाहे कि हमारे राज्य में कोई नहीं मरेगा, तो ऐसा नहीं हो सकता। आज तो एक फैशन चल गया है - वर्ष मनाने का। अहिंसा वर्ष या फलाना वर्ष, तो चक्रवर्ती यह आज्ञा कर दे कि इस वर्ष कोई नहीं मरेगा, तो क्या ऐसा हो सकता है?

अरे भाई! हम आज्ञा चलाने वाले, नियम बनाने वाले होते

कौन हैं? अरे! जो जिन आज्ञा है, वही हमारे लिये मानने योग्य है। **जिन आज्ञा ही हमारे मस्तक का आभूषण है,** जो वस्तु का स्वभाव है, उसे कोई बदल नहीं सकता।

प्रत्येक वस्तु में सामर्थ्य है कि नहीं! वस्तुत्व गुण है या नहीं! **अपना वस्तुत्व गुण अपना स्वरूप धारने में है, अपने वीर्य गुण की सामर्थ्य अपने स्वरूप की रचना करने में है, अपना परिणमन करने की सामर्थ्य है, दूसरे का कुछ करने की सामर्थ्य नहीं है। अपने परिणमन को भी आगे-पीछे करने की सामर्थ्य नहीं है। अपना परिणमन भी आगे-पीछे करना चाहें तो नहीं कर पाएँगे।** पर को अपना मानने वाला अज्ञानी भी अकेला ही खड़ा रहता है। **'आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।'** जिन्हें अपना माना है, उनमें से किसी एक को साथ ले चलो भाई और जग के ये लोग तो स्वार्थी हैं, तुम तो स्वार्थी नहीं हो, तुम ही उसके साथ चले जाओ! लेकिन ऐसा नहीं हो सकता।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यन्त भिन्न है। षट्कारकीय स्वतंत्रता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में स्वामित्व नहीं है, जो अपने को पर का स्वामी मानता है, वह दुःखी होता हुआ संसार में भ्रमता है और जो अपने को परमाणु मात्र का स्वामी नहीं मानता, वह तीनलोक का स्वामी होता है। तीनलोक का स्वामी कौन? अरे! तीनलोक में भी आप अपना स्वामी किसे मानोगे? जो आपको दबाकर रखे, आपका सब छीन ले, भगा दे या जो आपको स्वतंत्रता प्रदान करे! स्वतंत्र बताये, वही तो हमारा स्वामी है।

सुखी होने का उपाय क्या? पण्डित टोडरमलजी ने दो उपायों

की चर्चा की है। एक उपाय तो यह है कि जैसा पदार्थों का परिणमन यह चाहता है, वैसा हो जाए और एक उपाय यह है कि पदार्थ को अपनी इच्छानुसार परिणमाने की इच्छा मिट जाए। यहाँ दो उपाय सम्भावित कह रहे हैं, लेकिन उपाय तो एक ही है। परपदार्थ अपने अनुकूल परिणमित हो जाए यह सम्भव नहीं है। एक ही वस्तु को अनेक जीव अनेक प्रकार से परिणमाना चाहते हैं।

एक साधर्मी बोला - पण्डितजी हमारे यहाँ चलो, दूसरा बोला पण्डितजी हमारे यहाँ चलो, तीसरा बोला पण्डितजी आप तो यहीं रहो। पण्डितजी तो एक हैं, अब कहाँ जाएँ, क्या करें? यदि उनकी इच्छानुसार परिणमन भी करना चाहे तो कैसे करोगे? माने एक ही पदार्थ को अनेक जीव अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुकूल परिणमाना चाहते हैं, आप किस-किस के अनुसार परिणमेंगे! और जब आप किसी के अनुसार परिणमन नहीं कर सकते तो आप किसी को अपने अनुसार कैसे परिणमायेंगे, ऐसी कोई व्यवस्था है ही नहीं।

जब निर्ग्रन्थ धर्म की चर्चा आती है, आकिंचन्य धर्म की चर्चा आती है, तब हमको लगता है कि बस कपड़े उतार दो। अरे भाई! आप शरीर नहीं हैं। ये तो पहले से ही भिन्न है, इसे आपने अपना माना है, इसको अपना मानना छूटे बिना, कपड़ों को उतारने या रखने का कोई मूल्य नहीं है। पहले होता है निर्ग्रन्थ स्वरूप, फिर होती है निर्ग्रन्थ दृष्टि। निर्ग्रन्थ स्वरूप को जब निर्ग्रन्थ गुरुओं की वाणी से सुनकर, विचार करके युक्ति से निर्णय करते हैं और जब अन्तर्मुख होकर देखते हैं तो समझ में आता है कि परमाणु मात्र मेरा नहीं है। **'सब करै काज घर**

माँहि वास ज्यों भिन्न कमल जल में निवास'। भूमिका के अनुसार राग भी आया, राग के अनुसार कुछ कहा भी और आपने मान भी लिया, वह कार्य भी हो गया, तब भी निर्ग्रन्थ दृष्टि क्या अनुभव कर रही है, **'हमारा इसमें कुछ भी नहीं है।'**

गोम्मटसार आदि शास्त्रों की टीका करने वाले पण्डित टोडरमलजी जिन्हें आचार्यकल्प कहा जाता है, उनके वचन आचार्यों के समान प्रामाणिक माने जाते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि आचार्यों जैसी थी। उनकी भावना आचार्यों जैसी, उनकी सावधानी आचार्यों जैसी! जिन-आज्ञा भंग होने का बहुत भय! ऐसी सावधानी पूर्वक ग्रन्थ लिखा गया है, वे स्वयं लिखते हैं -

लिखनादिक वचनादिक क्रिया, वर्णादिक और इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्‌गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल।।

आपने जीव आदि के भेद तो बहुत पढ़ लिये - संसारी और मुक्त, त्रस और स्थावर, चौदह मार्गणा, गुणस्थान, जीव स्थान, सब पढ़ लिये लेकिन क्या नहीं पढ़ा! मैं जीव हूँ और शरीरादिक से भिन्न हूँ, बस इतना अनुभव करना रह गया!

'चौबीस ठाणा' एक छोटा सा ग्रन्थ है। चौबीस ठाणा माने चौबीस स्थान! उसमें अन्त में लिखा है -

ये सब रचना पर तनी इनमें नाहीं जीव।
तेरा दर्शन ज्ञान है तामें बसे सदीव।।

पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना और अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना। क्यों नहीं मिलाना? **'जो चाहो अपनो कल्याण।'** यदि अपना कल्याण करना चाहते हो तो!

यह है तत्त्वविचार! निर्ग्रन्थ स्वरूप कहा न! पर का अंश अपने में नहीं है, अपना अंश पर में नहीं है। अंश का अर्थ क्या? अंश माने अवयव, हिस्सा। द्रव्य-गुण-पर्याय! अपना द्रव्य परद्रव्य में नहीं, परद्रव्य अपने में नहीं। परद्रव्य में अपने गुण नहीं, परद्रव्य में अपना परिणमन नहीं है। परद्रव्य में अपना कर्तृत्व नहीं, परद्रव्य में अपना भोक्तृत्व नहीं, परद्रव्य में अपना स्वामित्व नहीं। परद्रव्य में अपना आधार-आधेयपना नहीं। ये सब अंश ही तो हैं। **परद्रव्य में अपना अंश नहीं है। ये वस्तु स्वरूप है और पर का अंश अपने में नहीं मिलाना, अपना अंश पर में नहीं मिलाना - यह तत्त्वविचार है।**

ऐसा तत्त्व विचार करते हुये मात्र परद्रव्यों से ही नहीं परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने रागादि भावों में जिन्हें पर-भाव कहते है, आध्यात्मिक शैली में उन्हें परद्रव्य भी कहते हैं, उनमें भी अपना अंश नहीं मिलाना! अरे भाई! जिनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा है, ऐसे अन्य जीव - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो परद्रव्य हैं ही - परद्रव्य का अर्थ है - जो स्वद्रव्य नहीं है, वह सब परद्रव्य हैं।

जैसे गाँव की कहावत है - न्यारा पूत पड़ोसी बराबर। ऐसे गुणों का भेद किया जाए, पर्यायों को भेद-दृष्टि से देखा जाए तो वे परद्रव्य ही तो हो गये, पड़ोसी बराबर! जैसे परद्रव्यों के लक्ष्य से विकल्प होते हैं, ऐसे ही भेद के लक्ष्य से भी विकल्प होते हैं, इसलिये उसको भी परद्रव्य कहा है। पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना इसका अर्थ यह है कि उनसे अपने को न्यारा देखना। भेदज्ञान का विचार करते हुये पर से भिन्न अपना स्वरूप

समझ में आता है कि - अरे! मैं तो ज्ञान-मात्र चैतन्य स्वरूप हूँ। पूजा में भी कहा है - **'जय ज्ञान-मात्र ज्ञायक स्वरूप'।** हम भगवान से कहते हैं कि आप ज्ञायक स्वरूप हो और भगवान भी हमसे कह रहे हैं कि तुम भी ज्ञायक स्वरूप हो। जैसे आप भगवान में व्यक्त हुये परिणाम देख रहे हो, वैसे ही शक्तियाँ हमारे अन्तर में हैं। जैसे भगवान में सर्वज्ञ दशा प्रकट हुई है, वैसे ही हममें सर्वज्ञ शक्ति है या नहीं? जैसे भगवान में अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है, वैसी ही हममें भी वीर्यत्व शक्ति है। भगवान में रागादि विकल्प नहीं रहे, उनका अभाव हो गया, ऐसे ही हमारे स्वभाव में भी रागादि नहीं हैं। ऐसे मिलान करना चाहिये! भगवान का जो स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है।

भगवान में और संसारी जीव में क्या अन्तर है। यदि स्वरूप से देखा जाए तो कोई अन्तर नहीं है। बस व्यक्ति और शक्ति का ही अन्तर है। बाहर से देखो तो उनके शक्तियाँ व्यक्त हो गईं हैं, हममें व्यक्त नहीं हैं, क्योंकि हम शक्तिमान की ओर नहीं देखते, हमें शक्तिमान का आश्रय नहीं है, शक्तिमान का आश्रय हो तो हममें भी वे व्यक्त हो जाएँगी।

कई बार हम ईर्ष्या बुद्धि से कहते हैं, कई बार लापरवाही से कहते हैं - क्या करें इनका पुण्य का उदय है, इनको पूर्व का संस्कार है, अब हम कैसे इस मार्ग पर लग जाएँ, तुम इस मार्ग की भावना भाओ तो तुम्हारा भी पुण्य का उदय हो जाएगा। तुम अभी संस्कार डालोगे तो तुम्हारे ये संस्कार बाद में काम आएँगे।

जो निर्ग्रन्थ स्वरूप है वही धर्मी है और स्वरूप का निर्णय करना हमारा पुरुषार्थ है। निर्ग्रन्थ स्वरूप का बार-बार विचार

करना – यह हमारा पुरुषार्थ है। **तत्त्वविचार वाला जीव ही सम्यक्त्व का और सम्यक्त्व वाला जीव ही चारित्र का अधिकारी है। चारित्र वाला जीव ही मुक्ति का अधिकारी है।**

निर्ग्रन्थ स्वरूप की जब रुचि हुई तब ऐसा लगा कि परमाणु मात्र मेरा नहीं है – ऐसा समझने से कोई दुःख भी नहीं हुआ, क्योंकि अपना सुख अपने में भासित हुआ। जैसे यात्रा में जाते हैं और जब स्टेशन आता है तो अपना सामान समेटते हैं। देखो भाई! कुछ रह तो नहीं गया अपना! तो दुःख नहीं होता है, क्योंकि अपना तो अपने पास है। **जब अपना सुख अपने में दिखाई देता है, अपनी प्रभुता अपने में दिखाई देती है तब परमाणु मात्र मेरा नहीं है – यह श्रद्धान होता है। हमें पर की जरूरत क्या है?**

जो निवृत्ति के मार्ग में लगना चाहते हैं, तत्त्व के मार्ग में लगना चाहते हैं, उन्हें हर परिस्थिति में प्रसन्न रहने की कला सीखना चाहिये। भगवान के दर्शन सब लोग इसलिये करते हैं कि उनमें प्रसन्नता दिखती है। योगीश्वरों का प्रभाव इसलिये पड़ता है, क्योंकि उनको देखकर विशुद्धता का भाव जागता है, यह सब व्यवहारिक बातें हैं; नहीं तो भावलिंगी सन्त बैठे थे और व्याघ्री आकर भक्षण कर गई। प्रभाव नहीं पड़ा! नहीं पड़ा तो नहीं पड़ा! कुत्ते तो शान्त हो गये, लेकिन राजा श्रेणिक का क्रोध शान्त नहीं हुआ, क्या करें? किस पर प्रभाव पड़े किस पर नहीं पड़े। **पुण्य के उदय में कोई अनुकूलता बन जाए उसे प्रभाव नहीं मान लेना, प्रभाव माने उत्कृष्ट भाव सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि भाव, वही प्रभाव है।**

नग्नता कोई वेश नहीं है, नग्नता स्वरूप है। बाहर की नग्नता भी स्वरूप ही तो है। अकलंक देव ने उस सभा में घोषणा की कि जिनदेव ही तीन लोक के स्वामी हैं। यह उन्होंने न्याय से सिद्ध किया। देखो! जो जिसका होता है उसके ऊपर उसकी सील होती है, वही तो उसका स्वामी होगा।

सारा जगत नग्न है। **'नग्नं पश्यत् वादिनो जगदिदं जैनेन्द्र-मुद्राङ्कितम्'।** जैसे सब नग्न जन्मते हैं, वैसे ही आत्मा अनादि से निर्ग्रन्थ है। जैसे ये वस्त्र आवरण है न! उनके हटने पर शरीर की नग्नता प्रगट हुई, ऐसे ही मोह का आवरण हटने पर निर्ग्रन्थता प्रकट होती है। **इस निर्ग्रन्थ धर्म का, आकिंचन्य धर्म का मूल निर्ग्रन्थ दृष्टि है। निर्ग्रन्थ दृष्टि नहीं हुई तो निर्ग्रन्थ आचरण कहाँ से आयेगा। निर्ग्रन्थ धर्म कहाँ से होगा? 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।'** दृष्टि विपरीत हो तो परिणति निर्मल कैसे हो सकती है। जिसकी दृष्टि शरीर और संयोगों पर है, उसके बाह्य परिग्रह नहीं होने पर भी निर्ग्रन्थता नहीं होती। जिसकी दृष्टि स्वभाव पर है वह समवशरण जैसा वैभव होने पर भी परिग्रही नहीं हैं। ये पर हैं, यदि आपको इनमें ममत्व हो तो यह परिग्रह कहलाता है और यदि आपको इसमें ममत्व नहीं तो ये परिग्रह नहीं है।

भगवान का समवशरण परिग्रह नहीं है और छह द्रव्य सारे विश्व में हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ छह द्रव्य नहीं हों। पुण्य के उदय में वे निकट वर्तते हैं। संयोग में आ गये, लेकिन यदि उनमें अपनत्व माना तो वे ही परिग्रह हैं। एक निर्ग्रन्थ स्वरूप, एक निर्ग्रन्थ दृष्टि और निर्ग्रन्थ भावना! जहाँ जिसे सुख होता है वहाँ उसकी भावना होती है।

यदि मकान में सुख दिखे तो ऐसा मकान मैं भी बनवाऊँ! कोई को कपड़ों में सुख दिखे तो ऐसा कपड़ा मैं भी बनवाऊँगा! भोगों में सुख दिखे तो भोगों की भावना भाता है और जब निर्ग्रन्थता में सुख दिखे तब ऐसी भावना होती है '**होवे मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है।**' जब भोग मिले नहीं थे तो कैसी भावना होती थी, अब निर्ग्रन्थ भावना होने पर इनसे कैसे छूटें – ऐसी भावना होने लगी।

परिग्रह दुःख का कारण है तो परिग्रह की वृद्धि से दुःख की वृद्धि होगी। पूजा में सम्यक् एकान्त दृष्टि ही लिखा है। '**परिग्रह चिन्ता दुःख ही मानो।**' नास्ति से कहें तो '**परिग्रह से तुम सुख मत मानो**' और उनकी जरूरत भी तो नहीं है।

यह व्यक्ति कपड़े उतारने पर नग्न हो जाता है। नग्न तो कपड़े पहिनने पर भी है। कपड़े से नग्नता का तिरोभाव है, अभाव तो नहीं हो सकता। चाहे कितने कपड़े पहिनने पर भी क्या नग्नता का अभाव हो जाएगा? कोई ज्यादा अभिमान करे तो लोग उससे कहते हैं काहे को अभिमान करते हो? कपड़ों के अन्दर सब नंगे हैं। यह तो शरीर की अपेक्षा से कहा है। ऐसे ही आचार्य महाराज समझाते हैं कि भाई! रागादिक से भिन्न देखो तो सब भगवान हैं। यह स्वरूप है हमारा। जो निर्ग्रन्थ स्वरूप का आनन्द प्रकट हुआ, वह नमूना है। जैसे नमूना दिखाने पर माल पसन्द आता है, ऐसे निर्ग्रन्थ स्वरूप का आनन्द प्रकट हुआ तो सारे विकल्प झूठे लगने लगे और ऐसा लगने लगा कि ऐसी दशा कब हो?

मुनिवरों को तो प्रचुर स्व-संवेदन में भी सन्तोष नहीं है।

जितना रागांश है उसको मेटने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। जैसे किसी को स्वच्छता और व्यवस्था बहुत पसन्द होती है, उनको कपड़ों में एक सिल्वट भी सहन नहीं होती, एक दाग भी सहन नहीं होता। ऐसे इन धर्मात्माओं को राग का अंश भी नहीं सुहाता! जैसे कबूतर गन्दी जगह में रहता है। यदि उड़ा दें तो भी लौट-लौट कर वहीं आता है और तोता यदि सोने के पिंजरे में रखें, उसको खूब बढ़िया खिलायें तो भी वह यह देखेगा कब निकलें, कब छूटें। ऐसे ही धर्मात्मा ज्ञानी तोते की तरह होता है। इसी का नाम है निर्ग्रन्थ होने की भावना।

निर्ग्रन्थ भावना भी दो प्रकार की है। एक निर्ग्रन्थ दशा होने की भावना, कि ऐसी निर्ग्रन्थ दशा हमें कब प्रगट हो? हम कब इस परिग्रह पंक से छूटें? दूसरी निर्ग्रन्थ स्वरूप के ध्यानरूप भावना, वहाँ ध्यान को ही भावना कहा है।

सकल कर्म फल सन्यास की भावना भाता हुआ ज्ञानी, आकिंचन्य धर्म की भावना भाता हुआ ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है, मानो साक्षात् केवली हुआ हो। इसी भावना से केवली हुआ जाता है। निर्ग्रन्थ स्वरूप, निर्ग्रन्थ स्वरूप का विचार, निर्ग्रन्थ स्वरूप का निर्णय, निर्ग्रन्थ स्वरूप की दृष्टि, निर्ग्रन्थ भावना और निर्ग्रन्थ दशा। निर्ग्रन्थ दशा में एकदेश निर्ग्रन्थ दशा, साधु दशा, पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि दशा। उसी निर्ग्रन्थ दशा को, उस भाव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

परमाणु मात्र मेरा नहीं है। मेरा तो ज्ञान दर्शन है - ऐसा जानकर कि यह मेरा नहीं है; ऐसा विकल्प नहीं, ऐसा कथन नहीं, ऐसा भाव भासित होना निर्ग्रन्थ धर्म है। ऐसा निर्ग्रन्थ धर्म

ही सुख का साक्षात् उपाय है। गृहस्थ दशा में इसकी भावना तो होती है, लेकिन प्राप्ति नहीं है।

राजा दशरथ को जब वैराग्य हुआ तो राम के भाई भरत भी अपने पिता के साथ चलने के लिये तैयार हुये। तब दशरथ ने कहा बेटा! तुम्हारा शरीर कोमल है, तुम अभी घर में रहो, बाद में दीक्षा लेना। भरत ने कहा – **हे तात्! यद्यपि गृहस्थ मार्ग में परम्परा मुक्ति है, लेकिन साक्षात् मुक्ति नहीं है। मेरी भावना तो निर्ग्रन्थ मार्ग पर चलने की है जहाँ से साक्षात् मुक्ति होती है।**

पंडित द्यानतरायजी ने भी पूजा में यही भावना भाई है –

'भालै न समता, सुख कभी नर बिना मुनि मुद्रा धरै।'

मुनिमुद्रा कहो, जिनमुद्रा कहो! ध्यान मुद्रा, नाशा दृष्टि, अन्तर दृष्टि। नग्नता, जहाँ कुछ छिपाने वाला भाव नहीं है। जीवन में सहजता, सरलता है, जो कुछ है सामने है। यह तो बाहर से विचार किया है, दृष्टि तो नाशा पर होती है। नाशा माने ना आशा। जिसमें कोई आशा नहीं, जो पहले से ही परिपूर्ण है। आनन्दमय है, प्रभु है ऐसे स्वभाव पर दृष्टि होना, उसका नाम नाशा दृष्टि है। ऐसी आनन्दमय दशा होने पर चंचल दृष्टि का अभाव हुआ। तब बाहर से अपने आप दृष्टि नाशा पर होती है। **'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नाशा पै धरैं।'**

ऐसे आकिंचन्य धर्म की चर्चा, निर्ग्रन्थ स्वरूप को, आकिंचन्य धर्म को समझने के लिये है। निर्ग्रन्थ स्वरूप को समझकर निर्ग्रन्थ दृष्टि करें! निर्ग्रन्थ स्वरूप की भावना भाते-भाते निर्ग्रन्थ

दशा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ हमारे जीवन में आये - ऐसी मंगल भावना है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम आकिंचन्य धर्म - सार

1. परिग्रह में आसक्त जीवों का चित्त एकाग्र नहीं होता।
2. जो परमाणुमात्र को अपना नहीं मानता, अपना स्वामित्व अपने को नहीं मानता है, वह तीनलोक का स्वामी हो जाता है।
3. आत्मा में संतुष्टि का नाम आकिंचन्य धर्म है।
4. जिसके पास आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उसके आकिंचन्य धर्म है।
5. जिनशासन में महानता परिग्रह से नहीं, परिग्रह के त्याग से होती है।
6. जितनी लगन, सावधानी से परिग्रह संभालते हैं, उतनी लगन और सावधानी से अपने परिणाम सम्हालें, तब हम आकिंचन्य धर्म के पात्र बन पायेंगे।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आचार्य समंतभद्र विरचित श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी कृत हिन्दी वचनिका के भावना अधिकार में उत्तम ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए लिखा है – '**समस्त विषयों में अनुराग छोड़कर ज्ञायक स्वभाव आत्मा में चर्या अर्थात् प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है।**' हे ज्ञानीजनों! यह ब्रह्मचर्य नामक व्रत बड़ा दुर्धर है। सभी बेचारे जो विषयों के वश होने से आत्मज्ञान से रहित हैं, वे इसे धारण करने में समर्थ नहीं हैं। जो मनुष्यों में देव समान हैं, वे इसे धारण करने में समर्थ हैं। जिसके ब्रह्मचर्य होता है उसे समस्त इन्द्रियों तथा कषायों को जीतना सुलभ है।

आकिंचन ब्रह्मचर्य धरम दश सार हैं।
चहुँगति दुःखतैं काढ़ि मुकति करतार हैं।।

ब्रह्मचर्य कहने से समस्त व्रत जिसमें अंतर्गर्भित हैं – ऐसा ब्रह्मचर्य समझना चाहिये। संसार की झंझटों से, गृहस्थ अवस्था की झंझटों से घबराकर या कुछ कल्पना करके विवाह शादी का त्याग कर दिया और बस ब्रह्मचर्य व्रत हो गया – ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये। उत्तम ब्रह्मचर्य के पहले नौ धर्मों की चर्चा है। यह तो लौकिक बात है कि जब नौवीं कक्षा तक में पास नहीं हुआ तो दसवीं में कैसे होगा? तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के धारण करने की पहली शर्त तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ब्रह्मस्वरूप आत्मा को पहिचानना चाहिये। ब्रह्मस्वरूप आत्मा की दृष्टि के बिना, भावना के बिना ब्रह्मस्वरूप में चर्या रूप ब्रह्मचर्य कैसे

होगा? चर्या और चर्चा दो शब्द हैं।

चर्चा के बिना चर्या नहीं होती और चर्या के बिना चर्चा सार्थक नहीं होती। अभी तो हम तत्त्व की चर्चा ही नहीं कर पा रहे हैं। आप कहेंगे, चर्चा तो बहुत होने लगी! अरे! बहुत होने लगी की बात नहीं है, हम अपने जीवन में कितनी तत्त्व चर्चा, तत्त्व चिन्तन करते हैं? भीतर जब चिन्तन हो तब चर्चा होगी।

जितनी भी कुरीतियाँ हैं, जितने भी विसंवाद हैं, उन सबके अभाव का एक ही प्रमुख उपाय है – तत्त्वचर्चा, तत्त्वचिंतन। मेरी भावना में आप पढ़ते हैं – **'घर-घर चर्चा रहे धर्म की'।** उसका फल क्या होगा कि **'दुष्कृत दुष्कर हो जावे।' चर्चा केवल मुख से नहीं होती, चर्चा में भीतर चिन्तन भी तो चाहिये! जब चिन्तन ही नहीं है तो चर्चा क्या होगी? चर्चा सुनकर चिन्तन चालू हो जाये और चिन्तन में जो बात आये वह फिर चर्चा में आये। चिन्तन मानसिक क्रिया है और चर्चा वचन की क्रिया है।** उत्तम ब्रह्मचर्य से पहले उत्तम अर्थात् सम्यग्दर्शन होना चाहिये। बहुत लोगों को लगता है कि हमें तो ब्रह्मचर्य लेना है। सच बात यह है कि ब्रह्मचर्य लेने-देने की चीज नहीं है।

ब्रह्मचर्य तो आत्मदृष्टि पूर्वक, आत्म सुख की प्रतीति आने पर आत्म भावना भाते-भाते होने वाली आत्म तृप्ति और विषयों से विरक्ति का नाम है अर्थात् ब्रह्मचर्य आत्म सन्मुखता पूर्वक होने वाली सहज स्वाभाविक आत्मिक परिणति है, लेने-देने की चीज नहीं है। श्रीगुरु के पास यदि हम जाएँ और कहें कि

ब्रह्मचर्य धारण करना है तो वे ब्रह्मचर्य देंगे या ब्रह्मचर्य की विधि देंगे?

वे ब्रह्मचर्य की विधि बताते हैं, ब्रह्मचर्य का ज्ञान देते हैं स्वरूप समझाते हैं, पश्चात् जब अन्तर्मुख होकर ब्रह्मस्वरूप का लक्ष्य हो तो ब्रह्मचर्य अन्तर से प्रगट होता है। हमने ब्रह्मचर्य का प्रतिज्ञा फॉर्म भरकर मन में सोच लिया कि हमने ब्रह्मचर्य ले लिया। ब्रह्मचर्य से पहले यदि दशधर्मों को देखा जाए तो उत्तम में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और पश्चात् क्षमादि भाव हैं।

ब्रह्मचर्य का घातक केवल अब्रह्म संज्ञा या मैथुन संज्ञा ही नहीं है, अपितु क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सर्व भाव ब्रह्मचर्य के घातक हैं। ब्रह्मचर्य का अभ्यास कर रहे हैं माने अलग सोने लगे, क्यों? ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना है, तो पहले तत्त्वाभ्यास करना है, ज्ञानाभ्यास करना है। ज्ञानाभ्यास करते हुये विषयों का रस टूटता है। ज्ञानाभ्यास के बिना विषयों का रस नहीं टूटेगा। फिर आचरण की दृष्टि होना चाहिये। क्षमा का अभ्यास होना चाहिये! कैसे? हमारी इच्छा के प्रतिकूल कार्य बनते हैं, हमें अनिष्ट की कल्पनाएँ होती हैं, हम झुंझलाते रहते हैं, चिड़चिड़ाते रहते हैं खिसियाते रहते हैं। कभी मन में, कभी वचन में और फिर काया से! **क्षमा के अभ्यास का मतलब हम किसी भी परिणमन को सहजभाव से, स्वरूपदृष्टि से देखने की आदत डालें अर्थात् हम उसे सहजभाव से सरलभाव से सहन कर सकें!** कर सकें वह तो बाद की बात है, पहले स्वयं क्षमारूप, सहजभावरूप रह सकें। माने वहाँ क्रोध उत्पन्न नहीं हो, यह अभ्यास रहना चाहिये। यह अभ्यास कैसे होगा? आत्म स्वरूप

का विचार करें, स्वतन्त्र परिणमन का विचार करें। क्रोध के और क्षमा के फल का विचार करें। यह सब तत्त्व विचार के बल से होता है।

यदि कोई नुकसान दूसरे के निमित्त से हो, तो हम उसे उसकी गलती मान लेते हैं और वही नुकसान यदि हमसे हो जाए तो हम उसे अपना उदय मान लेते हैं। **अभी तो हमारी यह उल्टी चिन्तन धारा चल रही है। दूसरे के दोषों को हम उदय जनित न कहकर उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते हैं, उनकी तो निन्दा करने लगते हैं, उसके प्रति विचिकित्सा करने लगते हैं, उनके प्रति क्षोभ करने लगते हैं और वे ही दोष यदि हमारे में हैं तो, क्या करें हमारा तो उदय ही ऐसा है। यह मोह का उदय है, हम बहुत सोचते हैं, क्या सोचते हो, उल्टा-उल्टा सोचते हो।**

अरे! जब अपने में ऐसी परिणति होवे तो हम उसे अपना अपराध समझें, दोष समझें और दूसरे की परिणति में हों तो उसे उदय समझें। हम सहज भाव से क्षमा भावरूप रह सकें! क्षमा माँगने की प्रतीक्षा नहीं करें। दूसरा हमसे क्षमा माँगे तो बड़े अहसान से, अभिमान से, 'ठीक है, जो कुछ हुआ सो हुआ, गलती तो हो ही गई। नुकसान तो हो ही गया। अब जाओ भैया क्षमा है।' ये क्षमा नहीं है। दूसरा हमसे क्षमा माँगे, इससे पहले ही हम क्षमा भाव रख सकें, वही क्षमा है। यह बात श्रावकाचार में कई जगह आयी है।

अपना साधर्मी हो, अपने अधीन सेवक आदि हो, उनसे यदि काम बिगड़ जाए, तो भी धर्मात्मा जीव कैसे बोलता है - 'तुम

तो हमारे हितैषी हो, तुम तो हमारे काम बनाते हो, अब हमारे कर्म-उदय से वह कार्य बिगड़ गया तो तुम घबराओ नहीं, मन खिन्न मत करो। हतोत्साहित मत हो, निराश मत हो, कोई बात नहीं, अरे! तुमने जानबूझ कर थोड़े ही हमारा काम बिगाड़ दिया।' और तत्त्व से जिनका परिचय नहीं है उनकी भाषा कैसी होती है - 'कैसे करते हो, आँखें फूट गई हैं, दिखता नहीं है, हाथों में जान नहीं है, इतना नुकसान हो गया है, हम तेरी तनख्वाह से काटेंगे तब पता पड़ेगा।'

अरे रे! प्रभु! श्रावकाचार क्या कह रहा है, वह हमें लोक व्यवहार सिखा रहा है। चरणानुयोग में नीति की प्रधानता से कथन होता है। जहाँ वात्सल्य और प्रीति होती है वहाँ लोक में भी ऐसा ही होता है।

ब्रह्मचर्य धारण करने की भावना जिनके अन्तर में है, वे स्त्रियों में ग्लानि करके सोचने लगे, द्वेष करने लगे, 'बच्चे, गृहस्थी तमाम रट्टे हैं, कमाओ, धमाओ, ये करो, वो करो, ये आ गये, वहाँ जाना है, बेकार है सब! बस अपन तो आराम से रहेंगे।' यह आराम क्या है। प्रमाद से सुख माने, वहाँ तो पाप ही होता है। ज्ञान पूर्वक अन्तर में सुख का अनुभव करे वहाँ धर्म होता है।

कोई दोष होने पर हम दबाव से नहीं, सहज भाव से क्षमा माँग सकें, सहज भाव से क्षमा कर सकें, तब हम ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी पर चढ़ पायेंगे। हमारे जीवन में तत्त्वज्ञान के अभ्यास से अन्तर्दृष्टि हो, निशंकता, निर्वाञ्छकता आदि गुण आवें, तब धर्म का प्रारंभ होता है।

हमारे अभिमान टूटें! बड़ी सावधानी से, विनय से, विशुद्धि

से आत्मार्थ के लिये जिनशासन की सेवा को सौभाग्य मानते हुये, अक्षरों को शुद्धिपूर्वक वाचें, अर्थ को विचारें, योग्यकाल में योग्य अभ्यास करें, उनको धारण करें, बड़े प्रमोदभाव से उस आत्मतत्त्व को दर्शाने वाले श्रीगुरुओं का स्मरण करें।

पण्डित फूलचन्दजी जब खानियाँ चर्चा के लिये पण्डित टोडरमलजी की नगरी जयपुर गये, तब सबसे पहले टोडरमलजी के मन्दिर गये और वहाँ गद्दी को नमन किया, उनके शास्त्र माथे लगाये। हम सम्यग्ज्ञान के अनिन्हव अंग की चर्चा कर रहे हैं।

जब समयसारजी मिला तब श्रीमद् रायचन्दजी मुट्ठी में जवाहरात भर-भर कर देने लगे। इसीप्रकार समयसार ग्रन्थ मिलने पर स्वामीजी क्या बोले - अशरीरी होने का शास्त्र मिल गया। धन्य हो गये आज! जो चाहते थे वह मिल गया। जब मोक्षमार्ग-प्रकाशक मिला तो पूरा अधिकार ही हाथ से लिख लिया।

शास्त्र स्वाध्याय करते समय या उपदेश सुनते समय, केवल शब्दों को ग्रहण नहीं करना है, केवल शब्दार्थ नहीं, आचार्य भगवान का अभिप्राय क्या है! शब्दार्थ तो पहला चरण है। उसके आगे चार और हैं। नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और उसके बाद भावार्थ। कलश टीकाकार तो भावार्थ ये है - यह पहले लिखते हैं। योग्य काल में योग्य अभ्यास, बहुमानपूर्वक, विनय पूर्वक, उपधानपूर्वक माने धारण करते हुये, अवधारण करते हुये तत्त्व का अभ्यास करें - यह ब्रह्मचर्य के अभ्यास की सीढ़ी है। अब क्या करें? आज उपवास किया है, तो सो गये। इस तरह रोगीवत् काल गंवाने की विधि मोक्षमार्ग में नहीं है।

हम कई बार बाहर की विधि भी बता देते हैं। देखो यह

शरीर आपको मिला है। जैसे देवालय में देव हैं वैसे देहालय में आत्म देव है। जब देवालय में पाप नहीं हो सकते, देवालय का उपयोग पाप कार्यों में नहीं हो सकता, तो आप देह का उपयोग पापों में कैसे कर सकते हैं?

यह अन्तिम चरण की चर्चा है '**यह तन पाय महातप कीजै यामै सार यही है।**' महातप का क्या अर्थ है? इच्छायें मोह के उदय में उत्पन्न होती हैं। इच्छाओं को रोककर उनकी पूर्ति को असंभव जानकर, स्वरूप में विश्रान्त होने का पुरुषार्थ करें। 'यह तन पाय महातप कीजै' का यह अर्थ है। **इच्छानिरोधः तपः 'स्वरूपविश्रान्ति तपः'** अरे भाई! मोह के उदय से एक-एक कदम पर नई-नई इच्छाएँ होती हैं, इनको रोकने में पुरुषार्थ मूलक बात कह रहे हैं।

बहुत लोग कहते हैं 'राग कहीं टूटता है? कितनी कोशिश करो, पढ़ो, लिखो, कितना कुछ करो। छोड़ दो घर! पर राग नहीं टूटता। हमने तो अच्छों-अच्छों को देख लिया।' भाई! तुम्हारी देखने की दृष्टि अच्छी नहीं है।

यदि राग नहीं टूटता तो हमारे आचार्य और मुनिराज वीतरागी कैसे हो गये? यह बतायें! ये वीतरागी सन्तों के रचित ग्रंथ हैं या नहीं। जो ऐसा मानते हैं कि राग नहीं टूटता है, वे वीतरागी मार्ग का निषेध करते हैं, यह कितनी बड़ी विराधना है! **जब तक बाहर की दृष्टि है, उल्टे विचार हैं तब तक केवल राग के बाह्य निमित्त छोड़ने मात्र से राग नहीं टूटता, परन्तु तत्त्वाभ्यास करने से, आत्मभावना से यदि राग नहीं मिटे तो कोई वीतरागी नहीं हो सकता।**

तत्त्वाभ्यास से राग सहज मिटता है। ज्ञानाभ्यास से ऐसा कोई दोष नहीं है, रागादि विकल्प नहीं हैं, जो नहीं मिट जाएँ। नहीं मिटे तो निर्विकल्प कैसे हो गये? अरे भाई! एक बच्चे को हाईस्कूल पास करना है तो उसे क्रम से पढ़ाई करना होगा कि नहीं! इसीप्रकार यदि ब्रह्मचर्य धारण करना है तो, तत्त्वाभ्यास से ही प्रारंभ होगा। क्षमा भाव का अभ्यास करो, मार्दवभाव का, कोमलता का अभ्यास करो, सरलता का अभ्यास करो, सन्तोष का अभ्यास करो – ये अभ्यास करो। **अन्तर में अपने स्वरूप में सन्तुष्ट और बाहर में उदय प्रमाण जितनी सामग्री मिल गई उसमें भी सन्तुष्ट रहो।** ब्रह्मचर्य के अभ्यास में यह अभ्यास आना चाहिये। बहुत से लोग एक समय खाने का अभ्यास कर रहे हैं, चटाई पर सोने का अभ्यास कर रहे हैं। अरे! ये तो अपने आप बन जाएँगे। इनमें ज्यादा दम नहीं है। भरत चक्रवर्ती ने कौन-सा अभ्यास किया था जो उसी दिन कपड़े उतारे, दीक्षा ली, बैठे और अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। अभ्यास के नाम पर काहे का अभ्यास कर रहे हो? '**तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजै, संशय, विभ्रम, मोह त्याग आपौ लख लीजै।**' ऐसा अभ्यास करो, संयम का अभ्यास करो। संयम के अभ्यास का मतलब केवल खाने-पीने का ही नहीं, मन का संयम होना चाहिए! संयम के अभ्यास करने का मतलब यह है कि मन में खोटे विचार, संकीर्ण विचार, हल्के विचार, उल्टे विचार न आ जाएँ।

इस ब्रह्मचर्य के प्रसंग में देशभूषण और कुलभूषण आपको याद आते ही होंगे, विचार करो! कितने शास्त्र इन्होंने ब्रह्मचर्य पर बनाये, कितने लेख लिखे, कितनी कवितायें लिखीं, लेकिन

उनका जीवन ब्रह्मचर्यमय होने की प्रेरणा दे रहा है। जब हम ब्रह्मचर्य पर लिखने बैठेंगे तब हम उनको याद करेंगे, उनका उदाहरण देंगे। उन्होंने कौन सा अभ्यास किया था। उनके मन में अनजाने में यह भाव आ गया – 'यह जो झरोखे से देख रही है, इस लड़की के साथ विवाह मैं करूँगा।' उन्हें क्या मालूम था यह हमारी बहिन है, लेकिन उसका भी कैसा प्रायश्चित किया। अरे! अनजाने में हमें अपनी बहिन के प्रति ऐसा भाव आ गया! अब तो हम दुनिया की समस्त स्त्रियों को बहिन ही समझेंगे और ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करेंगे।

मन का संयम अर्थात् विपरीत विचार, खोटे विचार, रागादिक का पोषण करने वाले, विषय-कषाय के उल्टे विचार। विपरीत विचार, संकीर्ण विचार, दुष्टविकल्प, इन सबको पंचास्तिकाय में दुष्प्रयुक्त ज्ञान कहा गया है। आपका बच्चा अगर गलत जगह खड़ा हो तो आप टोकेंगे – 'वहाँ क्या कर रहे हो, वहाँ क्या देख रहे हो? चलो यहाँ से! अरे! वहाँ कुछ नहीं, हटो वहाँ से। उसके साथ मत खेलो।'

जैसे हम उस बच्चे को टोकते हैं, वैसे अपने परिणाम को टोकना चाहिये। 'अरे! परिणति किसे देख रही है तू? क्या सुन रही है?' ऐसे अभ्यास का नाम संयम का अभ्यास है, यही ब्रह्मचर्य का अभ्यास है।

तप के लिए इच्छाओं को रोकने का अभ्यास करो! त्याग का अभ्यास, निर्ग्रन्थता का अभ्यास और स्वयं को अकेले देखने का अभ्यास करो! संयोगों में अपने को अकेला देखना सीखो! इतनी भीड़ में भी अपने को अकेला देखो!

यह देह और कर्म हैं सब! इन सबके बीच में अपने को अकेला देखो! 'सदा अकेला चेतन एक, ता माँहिं गुण बसत अनेक।'

व्यावहारिक दृष्टि से कहें तो कभी अपने को अकेला मत समझो! असमर्थ मत समझो! हम अकेले कहाँ हैं? हमारे ऊपर तो पंचपरमेष्ठी भगवान हैं। हमारे अन्तर में तो अनन्त शक्तियों का अखण्ड पिण्ड चैतन्य आत्मा है। आत्मा अकेला है, अधूरा नहीं, असमर्थ नहीं! **जब हम यह कहें कि अपने को अकेला मत देखो, तो यह कह रहे हैं कि कभी अपने को अधूरा मत देखो! कभी अपने को असमर्थ मत देखो, असहाय महसूस मत करो कि अब कोई नहीं है।**

आत्मा में एक वस्तुत्व नाम का गुण है या नहीं! भाई! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध दशा तक की प्रगट करने की सामर्थ्य तेरे अन्तर में है। बिना विषयों के अनन्तकाल तक सुखी रहोगे। बिना बाह्य वैभव के प्रभुतावान हो, ज्ञेयों के सन्मुख हुये बिना सारा लोकालोक सहजपने जानने में आ जाये ऐसी मेरी शक्ति, सामर्थ्य है, असमर्थ नहीं हूँ। अपने को अकेला देखने का अभ्यास करो अर्थात् ऐसा अभ्यास करो कि ऐसा लगने लगे कि हमारा बाहर में कुछ नहीं! अधिकार की भावना खत्म हो जाए!

अब ऐसा अभ्यास करो कि परद्रव्य 'मेरा' कहते समय भी पराया लगे! **दृष्टि का परिवर्तन ही सबसे बड़ा परिवर्तन है। इसके बिना ही परावर्तन होते हैं। दृष्टि का परिवर्तन मूल है। दृष्टि का परिवर्तन होने पर, दृष्टि अन्तर्मुख होने पर, पंच-परावर्तन का अभाव होता है।** पंच-परावर्तन का अभाव ही हो

गया ऐसा समझो। अब ब्रह्मचर्य का अभ्यास आपका सहज हो गया।

गाँव में पहले मिट्टी की दीवार बनाते थे, कम-कम बनाते थे, एक साथ बड़ी बनायें तो वह एकदम गिर जाये। थोड़ी बनाई, अब सूखने दी, फिर थोड़ी बनाई इसतरह से बनाते चले जाते थे - इस प्रक्रिया से बनाने पर वह दीवाल बनाना सरल हो जाती थी। ऐसे हम जब क्रमिक अभ्यास करेंगे तो यह ब्रह्मचर्य हमें सरल लगेगा। **हमें ब्रह्मचर्य कठिन क्यों लगता है? क्योंकि हम ब्रह्मचर्य का स्वरूप नहीं समझते हैं।** हम केवल ब्रह्मचर्य की बाह्य क्रियाओं को पढ़-सुन करके विषयों में सुख की कल्पना करके उसे कठिन समझने लगते हैं। कठिन इसलिये लगता है, क्योंकि तुझे ज्ञानाभ्यास नहीं है। अपने विषय की पहिचान हो जाने पर इन बाह्य विषयों का त्याग सहज हो जाएगा। अपना विषय पहिचाने बिना विषयों का त्याग कठिन लगता है, क्योंकि विषयों में सुखबुद्धि पड़ी है।

ब्रह्मचर्य, ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीनता का नाम है। विषयों का अनुराग छोड़कर, ब्रह्मस्वरूप आत्मा, ज्ञायक स्वरूप में चर्या सो ब्रह्मचर्य है। शुरूआत कहाँ से की, विषयों का अनुराग छोड़कर, क्योंकि जैसे कहीं चलना हो, वहाँ चलना है, तो पूछते है, वहाँ क्या है, काहे को चलना है, कैसे चलना है, कितनी दूर है? क्या होगा, कितने दिन में लौटेंगे? जब ज्यादा बातें करते हैं न! तो वह कहता है, तुम पहले यहाँ से उठो तब बतायें! जीव विषयों में बैठा है। सच पूछो तो, जिनवाणी पढ़ रहा है, पूजा, दान, भक्ति कर रहा है, वो इसलिए कि पुण्य होगा कुछ! विषयों

की वासना से ग्रसित हुआ उनकी पूर्ति के लिये वह तप कर रहा है। क्या उसके धर्म साधन है? **'भुक्ति-मुक्ति दातार तीर्थंकर चौबीस वर'। 'भुक्ति मुक्ति दातार'।** उसमें उसको मुक्ति गौण लगती, भुक्ति मुख्य लगती है।

वासनायें कितनी गहरी रहती हैं, धार्मिक कार्यक्रमों में भी जाए तो लौटकर लोग क्या कहते हैं - 'कितना बढ़िया इन्तजाम, चार बजे चाय, फिर आठ बजे नाश्ता, ग्यारह बजे भोजन, जिसको जो लेना हो, फिर पाँच बजे भोजन!' कहाँ गये थे तुम, क्या देखा? अरे! प्रवचन में क्या विषय चला यह तो बताओ भाई! बात समझने की है! ऐसा दोष अपने में हो तो दूर करना, दूसरों के दोष देख-देखकर कषायवान नहीं होना।

आचार्य महाराज कहते हैं - कि विषयों का अनुराग छोड़ो। देखो! कितने सुन्दर शब्द हैं, अनुराग छोड़ो, विषयों का संयोग छोड़ो इतना नहीं कहा, विषयों की प्रवृत्ति छोड़ो, इतना नहीं कहा। **विषयों का संयोग छोड़ना अलग बात है, विषयों की प्रवृति छूटना अलग बात है और विषयों का अनुराग छूटना अलग बात है। विषयों का अनुराग छोड़ने का क्या अर्थ है? विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर उन्हें नहीं चाहना।**

ज्ञानी धर्मात्मा को विश्व दिखता है लेकिन उनमें अपना कोई प्रयोजन नहीं दिखता, इसलिये वे अपनी अन्तर साधना में मग्न रहते हैं। जिसे विषय सुहाते ही नहीं हैं, भोग-संयोग सुहाते ही नहीं हैं तो वह उन भोग-संयोग में अपना उपयोग क्यों लगायेगा?

नाटक समयसार में कहा है - **'जिन्हकी सकति जगी अलख जगायवे को।'** आत्म स्वरूप में जिसको उत्साह आ

रहा है। जैसे विषयों की वासना वाले जीवों को लौकिक पर्वों में उत्साह आता है, लौकिक कार्यों में उत्साह आता है, धार्मिक कार्यों में नहीं आता; ऐसे ही धर्मात्मा जीव को स्वरूप साधना में उत्साह है और बाहर के भोग-संयोग में उत्साह नहीं है। '**विषयों की आशा नहीं जिनके**' हमें नहीं चाहिये, कर्म वृक्ष के समस्त फल हमारे बिना भोगे ही खिर जाओ! हमें इनका कोई प्रयोजन नहीं है। हम तो अपने स्वरूप में सन्तुष्ट हैं - ये है ब्रह्मचर्य की साधना, ये है ब्रह्मचर्य की भावना! ब्रह्मस्वरूप में मग्न हो गये तो वचनातीत, विकल्पातीत, सहज ज्ञानानन्द दशा ही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। ऐसा धर्म जीवन में प्रगट करने योग्य उपादेय है, परमानन्दमय है। हम सब ज्ञानाभ्यास से इसी की भावना भायें और ऐसा ही पुरुषार्थ करें - यही भावना है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।

❖❖❖

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म - सार

1. ब्रह्मचर्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन निज शुद्ध चिद्रूप की भावना ही है।
2. ब्रह्मचर्य की आधारशिला निर्मल तत्त्वज्ञान है क्योंकि भोगों में सुख बुद्धि छूटे बिना भोगों के परिणाम कैसे रुकेंगे?
3. ब्रह्मचर्य की धारा में प्रदर्शन के लिए अवकाश नहीं है।
4. सदैव सहज प्रसन्न रहना ब्रह्मचारी का लक्षण है। क्षण-क्षण में उद्विग्न हो जाने वाला सच्चा ब्रह्मचारी नहीं हो सकता।
5. जगत की ओर देखने से ब्रह्मचर्य का घात ही होता है। अतः निज की ओर देखना ही श्रेयस्कर है।

क्षमावाणी

खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, बैरं मज्झं ण केणवि।।

क्षमावाणी के इस प्रसंग में क्षमा माँगने से पहले क्षमा करने की बात है। 'खम्मामि सव्व जीवाणं' मैं सर्व जीवों को क्षमा करता हूँ। क्षमा कैसे किया जाएगा? विचारना! सर्व जीवों में सिद्धत्व की स्थापना करने पर किसी जीव ने मेरा भला किया, बुरा किया, ये सब भाव मिथ्या भासित हो जाते हैं। इसने मेरा ऐसा किया, इसप्रकार के दुर्विकल्पों के कारण क्रोधादिक परिणाम अज्ञान दशा में उत्पन्न होते हैं। वस्तुस्वरूप का विचार करने पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता भासित नहीं होता, तब किसी से मेरा भला-बुरा हुआ ही नहीं है।

ज्ञायक भाव आज भी ज्ञायक भावरूप है, अनन्त गुणों का समूह है। उसमें न कुछ कम हुआ, न कुछ अधिक हुआ! मेरे में कुछ अनिष्ट हुआ ही नहीं है। आत्मा में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना के लिये अब अवकाश ही नहीं है। अपने में ही पर से अत्यन्त निरपेक्ष स्वयं ही पूर्ण ज्ञान-आनन्दमय महा-पदार्थ है, उसे देख तो सही!

कुछ लोग कहते हैं कि 'इतना समय चला गया, बहुत नुकसान हो गया।' ठीक है इतना समय चला गया, बात सच्ची है, लेकिन इतना समय चला गया इसे देखने से लाभ क्या है? **अभी भी हमारे पास अनन्त काल है और इतना समय चले जाने से वह समय लौटकर तो आने वाला नहीं है। आज भी**

पूर्ण तत्त्व है, उसको लक्ष्य करके आनन्दित होना ही अपने लिये श्रेयस्कर है।

भवितव्य को भी सहज भाव से स्वीकार करो और कोई उपाय नहीं है। भवितव्य को बदलने में कोई समर्थ नहीं है। समय चला गया तो चला गया, लेकिन मेरे में कुछ नहीं चला गया। पर-द्रव्य को अकर्त्ता देखो! अपने को भी परद्रव्य का अकर्त्ता देखो, तब यह बात समझ में आयेगी एवं तब क्षमा परिणति प्रगट होगी।

सराग भूमिका में, सविकल्प दशा में अस्थिरता के कारण, ज्ञानी को भी ऐसे प्रसंग, दोष हो जाते हैं – भूधर शतक में एक पद है–

राग उदै भोग भाव, लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागैं, जैसैं नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे, तन मैं सदीव जीव,
राग गये आवत, गिलानि होत न्यारे हैं।।

अपने को शरीर की दृष्टि से देखने पर, इन्द्रियों की ओर से देखने पर, राग की ओर से देखने पर जो इष्ट भासित होते थे, अब उनमें इष्ट की कल्पना विलय को प्राप्त हो गई। जब अपने को चैतन्य देखा, जब अपने को आत्मा देखा तब उनमें इष्ट की कल्पना ही विलय हो गई; तब कौन इष्ट, कौन अनिष्ट। तब '**खम्मामि सव्व जीवाणं**'। सब जीवों को क्षमा करने का भाव है, किसी भी जीव को अपने सुख-दुःख का कारण नहीं देखना! मैं अपने स्वरूप को भूलकर व्यर्थ ही दुःख का वेदन करता रहा, कोई जीव, कोई द्रव्य अपने लिये इष्ट-अनिष्टरूप न दिखे, तब क्रोधादिक भाव उत्पन्न ही नहीं होंगे और जो होते थे वे

मिथ्या भासित होंगे। अपने स्वरूप को लक्ष्य करके आनन्दित रहे तो कोई परद्रव्य बाधक नहीं दिखेगा।

कौन साथ ममता करूँ, कौन साथ हो द्वेष।
द्रव्य दृष्टि से देखिये, शुद्ध बुद्ध परमेश।।

पराश्रित विकल्पों से जीव दुःखी होता है और परद्रव्य को दुःख का कारण मानता है, आत्मा की ओर से कहें तो स्वयं को भूलकर दुःखी होता है और दुःख का कारण परद्रव्य को मानता है। हे जगत के जीवो! यदि तुम्हें सुखी होना है तो तुम परद्रव्यों को दुःख का कारण मत मानो!

दीक्षा के प्रसंग में प्रवचनसारजी में कहा है – भो कुटुम्बी जनो! तुम भी हमसे मोह छोड़ो। अब तो विदाई की बेला है, हम आत्मार्थ साधने के लिये अनादि जनक, अनादि जननी, अनादि रमणी के समीप जाते हैं। तुम यदि मोह करोगे तो तुम्हें रोना होगा, तुम दुःखी होओगे! मोह मत करो। पर्याय दृष्टि, संयोग दृष्टि, यही तुम्हारे क्रोधादिक के कारण हैं।

'आकुलित भयो अज्ञान धार, अब होओ निराकुल ज्ञान धार।' अब वस्तुस्वरूप को समझ कर अंतर्मुखी हो जाओ और तो कोई उपाय नहीं है। **'सव्वे जीवा खमंतु मे।'** इसमें कहा है – कोई जीव हमारी ओर से शल्य मत रखो।

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि हमारे निमित्त से दुःखी मत होओ! अरे! निमित्त से कोई दुःखी होता ही नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो होता है न साहब! हाँ, व्यवहार से होता है। सुनो भाई! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से भी कोई तुम्हारे निमित्त से दुःखी नहीं होता। अगर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

को देखा जाए तो तुम्हारे प्रमाद के कारण बहुत से जीवों की विराधना जरूर होती है। तुम्हारे विषयों की आसक्ति से जीवों की विराधना जरूर होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी आपको मिथ्यादर्शन, अज्ञानादिक भाव छोड़ना चाहिये, फिर तुम्हारे निमित्त से कोई दु:खी नहीं होगा। आपका परिणाम आपके लिये दु:खरूप है और दूसरे के लिये दु:ख का निमित्त है। अगर तुम यह चाहते हो कि कोई जीव हमारे निमित्त से दु:खी नहीं हो तो पाप को छोड़ो! आप भी दु:खी नहीं होंगे और कोई दु:खी नहीं होगा। अगर तुम चाहते हो कि हमारे निमित्त से कोई दु:खी नहीं हो तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के भावों को छोड़ो। मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के भावों को छोड़ो। यही क्षमा माँगने की और क्षमा करने की प्रक्रिया है।

सव्वे जीवा खमंतु मे। सब जीव मुझे क्षमा करें। इसका प्रयोजन क्या है? कोई क्षमा नहीं करे तो कोई नुकसान है? नहीं। तब फिर क्षमा माँगने का प्रयोजन क्या है? '**क्षमा क्षमा सबही सों कहिके मन की शल्य हनेई**' अपने मन की विशुद्धि के लिये क्षमा याचना का परिणाम है।

देखो! परमार्थ दृष्टि से देखें तो ज्ञानी जीवों से क्षमा माँगना, उनका अनादर है और अज्ञानी से क्या क्षमा माँगना? अज्ञानी के पास क्षमा है ही नहीं, वह क्षमा कैसे करेगा? यदि तीव्र कषायी से क्षमा माँगें तो उसका क्रोध और बढ़ेगा। यह बिचारा क्षमा का स्वरूप नहीं जानता तो क्षमा कैसे करेगा? और ज्ञानी ने क्रोध किया ही नहीं है तो यह क्षमा कैसे करेगा?

यदि ज्ञानी से क्षमा याचना करें तो जैसे श्रेणिक ने यशोधर

मुनिराज से क्षमा याचना की थी, महाराज क्षमा करो, बहुत अपराध हुआ! जिस अज्ञान से अपराध हुआ है उस अज्ञान को छोड़ो, हमने तो तब भी क्रोध नहीं किया, हमारी तो क्षमा ही थी। आप नहीं माँगें तो भी हम क्षमा करेंगे। हमसे क्षमा माँगने की अपेक्षा उस दोष को दूर करने का प्रयत्न करें, यही कल्याण का मार्ग है।

यदि हम उस गलती को क्षमा कर दें और आप उस दोष को छोड़ें नहीं, तब हमारी क्षमा से आपको लाभ क्या होगा? क्रोध दुःख का कारण है, क्षमा सुख का कारण है, **परंतु अपना क्रोध अपने लिये दुःख का कारण है और अपनी क्षमा अपने लिये सुख का कारण है।** क्रोध के काम तुम करो और क्षमा हम करें तो हमारी क्षमा हमारे लिये तो आनन्दरूप है, हम तो दुःखी नहीं होंगे, लेकिन आपको उस क्षमा से क्या लाभ होगा?

अरे! सबसे पहले जिस दोष की क्षमा माँग रहे हैं उस दोष को आप हेय जानें, फिर उस दोष को दूर करने का उद्यम करें; इस बात का संकल्प करें कि हमारे जीवन में ऐसा दोष फिर न बन पाये। ये चरणानुयोग पद्धति है।

दूसरी बात यह है कि उस दोष को दूर करने के लिये आप ज्ञानाभ्यास करें! जब आप निर्दोष तत्त्व का अभ्यास करेंगे तब दोष दूर हो सकेंगे। दोष को भिन्न जानो, अपने निर्दोष स्वरूप को भिन्न जानो। जितना-जितना आप निर्दोष स्वरूप का लक्ष्य करते जाओगे, दोष दूर होते जाएँगे।

निर्दोष स्वरूप की दृष्टि से मिथ्यात्व का दोष तत्काल मिट गया, अज्ञान का दोष मिट गया फिर जो प्रवृत्ति में

उल्टे-सीधे वचन, उल्टी-सीधी चेष्टायें, अनीति, अन्याय, अभक्ष्य ये सब मिट गये।

अगर आप क्षमा माँग रहे हैं तो यह ज्ञान भी होना चाहिये कि किस दोष की आप क्षमा माँग रहे हैं? बहुधा हम लिहाज से कह देते हैं कि गलती हो गई। ऐसे प्रसंग भी बनते हैं कि सामने वाले की कुछ गलती समझ में नहीं आती।

कई बार ऐसा होता है कि गलती दिखाई दे रही है और सामने वाला चुप है। हम हृदय से यह स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं कि गलती हो गई। उन्होंने ऐसा किया था - ऐसा कहकर दूसरे के ऊपर दोष देता रहेगा। जब तक ऐसी प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन में रहेंगी तब तक हमारा क्षमावाणी पर्व प्रारंभ ही नहीं होगा।

निर्दोष स्वरूप की दृष्टि बिना हमारी परिणति के दोष भी हमारे ज्ञान में नहीं आते। कितने ही दोषों को तो हम गुण मान बैठे हैं। प्रसंग-प्रसंग में हँसने का स्वभाव है। बोलो ये दोष है या नहीं? जो संयोग आते हैं, जो पर्याय आती है उसे अपना मान बैठते हैं। अपने अनुकूल परिणमाने का भाव आता है, यह महान दोष है कि नहीं? परद्रव्यों के कार्य का कर्तृत्व हमारे अन्दर बैठा रहता है, यह महान दोष, हमें दोष लगता ही नहीं है। तब काहे की क्षमा, कैसे क्षमा करोगे? प्रतिक्रमण कैसे होगा? स्वयं होते हुये कार्य का यदि हमें कर्तृत्व हो गया हो तो वह हमारा अपराध मिथ्या होवे। अब हम सारे स्वयं होते हुये कार्यों में अपना कर्तृत्व नहीं देखेंगे, अन्दर में खेद नहीं करेंगे, तभी सच्ची क्षमा होगी। यही क्षमा माँगने की प्रक्रिया है और यही क्षमा करने की प्रक्रिया है।

परमार्थ से अपने में और सब जीवों में सिद्धत्व की स्थापना करना यही क्षमा धर्म की उत्तम प्रक्रिया है, सम्यक् प्रक्रिया है, परमार्थ प्रक्रिया है। व्यवहार से कहें तो हम एक दूसरे का कर्तृत्व नहीं देखें और अपने दोषों को ईमानदारी से स्वीकार करें, यह व्यवहार क्षमा है।

हम तत्त्वज्ञान के प्रकाश में आत्म निरीक्षण करें। ध्यान रखना! अपने दोष के बिना हम दुःखी नहीं हो सकते। कितना ही तीव्र पाप का उदय हो, घोर उपसर्ग हो रहे हों, जीव नरक में भी हो, तो भी अपने दोषों के बिना जीव दुःखी नहीं होता। हम दूसरे के दोष से दुःखी हों, यह असंभव है। दूसरे के दोष से दूसरा दुःखी होगा और हम अपने दोषों से दुःखी होंगे। **उस दोष को दूर करने के लिये निर्दोष स्वरूप को देखो, निर्दोष भगवन्तों का दर्शन करो, निर्दोष वाणी का स्वाध्याय करो, निर्दोष तत्त्व का चिन्तन करो, निर्दोष तत्त्व की आराधना करो! तब समस्त दोषों का अभाव हो जाएगा। दोष पराश्रय से होते हैं और स्वाश्रय से मिटते हैं। हम सभी अपने दोषों को जानकर स्वभाव के आश्रय से उनका अभाव करें और अपनी परिणति में क्षमा आदि दश धर्म प्रकट करें - यही भावना है।**

'तुम चरणन में करूँ प्रणाम, पाऊँ शाश्वत पावन धाम।'

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्म स्वरूप।

❖❖❖

क्षमावाणी

'खम्मामि, सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे'

क्षमा

मात्र क्षमा ही नहीं,
आत्मा का स्वभाव है 'उत्तम क्षमा'
वीरों का आभूषण,
असक्तों का बल,
और है – सहज मंगलमय
स्वयं को, सबको और सदाकाल।
आओ प्रगट करें,
पर्व के अवसर पर,
दोष दृष्टि छोड़कर, द्रव्य दृष्टि पूर्वक
वीतराग देव, गुरु, धर्म के सान्निध्य में,
तत्त्वज्ञान के अभ्यास से,
दूर से ही छोड़ दें
क्रोधादि दुर्भावों को।
धारण करें – 'क्षमा'
मात्र,
मजबूरी और औपचारिकता से नहीं
अपितु
सहज, स्वाभाविक एवं पारमार्थिक।

❖❖❖

श्री वर्द्धमान न्यास, अमायन (भिण्ड, म.प्र.)
द्वारा प्रकाशित, उपलब्ध सत्साहित्य
(श्री ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' विरचित)

क्र.	नाम	न्यौछावर राशि
1.	अमृत वचन (सजिल्द)	50/-
2.	स्वानुभव पत्रावलि (सजिल्द)	50/-
3.	जीवन पथ दर्शन (सजिल्द)	50/-
4.	जीवन पथ दर्शन (संक्षिप्त)	20/-
5.	लघु बोध कथाएँ	30/-
6.	जिनवर स्तवन (सजिल्द)	30/-
7.	स्वरूप-रमण (सजिल्द)	40/-
8.	जिन-भक्ति सिंधु (सजिल्द)	50/-
9.	वर्द्धमान पूजाञ्जलि (सजिल्द)	60/-
10.	सहज पाठ संग्रह (सजिल्द)	50/-
11.	वैराग्य पाठ संग्रह (सजिल्द)	40/-
12.	दृष्टांत-सिद्धांत (सजिल्द)	40/-
13.	नीति वचन (सजिल्द)	50/-
14.	जिनवर-गुणगान (सजिल्द)	50/-
15.	अमृत सागर (सजिल्द)	50/-
16.	श्री सम्मेदशिखर मण्डल विधान	20/-
17.	श्री रत्नत्रय विधान एवं चौंसठ ऋद्धि विधान	20/-
18.	श्री पंच बालयति तीर्थंकर मण्डल विधान	20/-
19.	श्री चौबीस तीर्थंकर मण्डल विधान	30/-
20.	उन्नति	30/-
21.	प्रेरणा	30/-
22.	बाल भावना	40/-
23.	प्रेरणा-दीप (ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'-संस्मरण)	30/-
अन्य -		
24.	अनुबंध-श्रीमती रूपवती 'किरण'	30/-
25.	पावन मन-श्रीमती रूपवती 'किरण'	50/-
26.	जैन सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (सजिल्द)-श्रीमती रूपवती 'किरण'	50/-
27.	वसंततिलका-श्रीमती रूपवती 'किरण'	25/-
28.	पूर्णिमा-श्री भगवत् जैन	25/-
29.	अमर विश्वास (कहानी संग्रह)	30/-
30.	विराग सरिता-श्रीमद् राजचंद्रजी के वचनामृत	30/-
31.	शीलवती सीता	20/-

सम्पर्क सूत्र - प्रवीण भैया, अमायन, मोबा. - 9926316216

नोट :- पी.डी.एफ फाइल भी उपलब्ध है